विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ० से तक
क.	**प्रकाशकीय**	७
ख.	**संकेत विवरण**	८
१.	अथर्वशिर उपनिषद्	९-१६
२.	अध्यात्मोपनिषद्	१७-२४
३.	अवधूतोपनिषद्	२५-२९
४.	आत्मपूजोपनिषद्	३०-३०
५.	आत्मबोधोपनिषद्	३१-३५
६.	आत्मोपनिषद्	३६-४०
७.	आरुण्युपनिषद्	४१-४३
८.	आश्रमोपनिषद्	४४-४६
९.	कठरुद्रोपनिषद्	४६-५२
१०.	कुण्डिकोपनिषद्	५३-५६
११.	कैवल्योपनिषद्	५७-६०
१२.	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	६१-९०
१३.	क्षुरिकोपनिषद्	९१-९४
१४.	जाबालदर्शनोपनिषद्	९५-११५
१५.	जाबालोपनिषद्	११६-११९
१६.	जाबाल्युपनिषद्	१२०-१२२
१७.	तुरीयातीतोपनिषद्	१२३-१२४
१८.	द्वयोपनिषद्	१२५-१२५
१९.	नारदपरिव्राजकोपनिषद्	१२६-१६४
२०.	निर्वाणोपनिषद्	१६५-१७७
२१.	पंच ब्रह्मोपनिषद्	१७८-१८१
२२.	परब्रह्मोपनिषद्	१८२-१८८
२३.	परमहंस परिव्राजकोपनिषद्	१८९-१९४

क्र०	विषय	पृ० से तक
२४.	परमहंसोपनिषद्	१९५-१९६
२५.	पैङ्गलोपनिषद्	१९७-२०९
२६.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	२१०-२१२
२७.	ब्रह्मविद्योपनिषद्	२१३-२२२
२८.	ब्रह्मोपनिषद्	२२३-२२६
२९.	भिक्षुकोपनिषद्	२२७-२२८
३०.	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	२२९-२४१
३१.	महावाक्योपनिषद्	२४२-२४४
३२.	मैत्रेय्युपनिषद्	२४५-२५३
३३.	याज्ञवल्क्योपनिषद्	२५४-२५८
३४.	योगतत्त्वोपनिषद्	२५९-२७०
३५.	वज्रसूचिकोपनिषद्	२७१-२७२
३६.	शाट्यायनीयोपनिषद्	२७३-२७८
३७.	शाण्डिल्योपनिषद्	२७९-३०१
३८.	शारीरकोपनिषद्	३०२-३०४
३९.	संन्यासोपनिषद्	३०५-३१९
४०.	सुबालोपनिषद्	३२०-३३८
४१.	स्वसंवेद्योपनिषद्	३३९-३४१
४२.	हंसोपनिषद्	३४२-३४४
ग.	**परिशिष्ट**	
	१. परिभाषाकोश	३४५-३९८
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	३९९-४२४

*****

ॐ

प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता **परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी** ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार **शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा** के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६१) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस ब्रह्मविद्याखण्ड में ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान,उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई', 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

- प्रकाशक

संकेत विवरण

अथर्व० - अथर्ववेद
अथर्वशिख०- अथर्वशिखोपनिषद्
अथर्वशिर०- अथर्वशिरउपनिषद्
अद्वयता०- अद्वयतारकोपनिषद्
अध्यात्मो०- अध्यात्मोपनिषद्
अमृतनादो०- अमृतनादोपनिषद्
अवधूतो०- अवधूतोपनिषद्
आत्म०- आत्मपूजोपनिषद्
आत्मबोधो०- आत्मबोधोपनिषद्
आत्मो० - आत्मोपनिषद्
आप०श्रौ०सू०- आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आरुणि०- आरुण्युपनिषद्
आश्रमो०- आश्रमोपनिषद्
उ० - उत्तर
ऋ० - ऋग्वेद
एकाक्षरो०- एकाक्षरोपनिषद्
कठरुद्रो०- कठरुद्रोपनिषद्
कठो० - कठोपनिषद्
कुण्डिको०- कुण्डिकोपनिषद्
कर्म०भा०- कर्मकाण्ड भास्कर
का०श्रौ०सू०- कात्यायन श्रौत सूत्र
कैवल्यो०- कैवल्योपनिषद्
कौ०ब्रा०उ०-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्षुरिको०- क्षुरिकोपनिषद्
खं०- खण्ड
गी०- गीता
गोरक्ष० सं०- गोरक्ष संहिता
घेर० सं०- घेरण्ड संहिता
छान्दो०- छान्दोग्योपनिषद्
जा०दर्शनो०- जाबालदर्शनोपनिषद्
जाबालो०- जाबालोपनिषद्
जाबाल्यु०- जाबाल्युपनिषद्
तं०सा०सं०- तंत्र सार संग्रह
तां०ब्रा०- तांड्य ब्राह्मण
तुरीया०-तुरीयातीतोपनिषद्
ते०बि०- तेजबिन्दूपनिषद्
तैत्ति०ब्रा०-तैत्तिरीय ब्राह्मण
दर्शनो०- दर्शनोपनिषद्
द्वयो०- द्वयोपनिषद्
ना०परि०- नारदपरिव्राजकोपनिषद्
नादबिन्दु०- नादबिन्दूपनिषद्
नि०- निरुक्त
निरा०- निरालम्बोपनिषद्
नैषधी०- नैषधीयचरितम्
पं० ब्र०-पंचब्रह्मोपनिषद्
पंच०- पंचवार्तिक
परब्रह्मो०- परब्रह्मोपनिषद्
परम०प०- परमहंस परिव्राजकोपनिषद्
परमहंसो०- परमहंसोपनिषद्
पा०गृ०सू०- पारस्कर गृह्य सूत्र
पातं०यो०प्र०- पातंजल योग प्रदीप
पातं०यो०सू०- पातंजल योग सूत्र
पाशुपत०- पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्
पृ०- पृष्ठ
पैङ्गलो०- पैङ्गलोपनिषद्
प्र०- प्रश्न
प्रश्नो०- प्रश्नोपनिषद्
बृह०उ०- बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा०ध०सू०- बौधायन धर्म सूत्र
ब्र०सू०- ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मबिन्दु०- ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्म०भा०- ब्रह्मयोगी भाष्य
ब्रह्मविद्यो०- ब्रह्मविद्योपनिषद्
ब्रह्मवै०पु०- ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
ब्रह्मो०- ब्रह्मोपनिषद्
भर्तृ०- भर्तृहरि शतक
भा०- भागवत
भिक्षु०- भिक्षुकोपनिषद्
मं०ब्रा०उ०- मंडल ब्राह्मण उपनिषद्
मत्स्यपु०- मत्स्यपुराण
मनु०- मनुस्मृति
महा०- महाभारत
म०वा०-महावाक्योपनिषद्
महो०- महोपनिषद्
माण्डू०- माण्डूक्योपनिषद्
मुण्डको०- मुण्डकोपनिषद्
मैत्रा०- मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्रे०- मैत्रेय्युपनिषद्
यजु०- यजुर्वेद
याज्ञ०स्मृ०- याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०कु०- योगकुण्डल्युपनिषद्
योगियाज्ञ०- योगियाज्ञवल्क्य
यो०त०- योगतत्त्वोपनिषद्
यो०द०-योगदर्शन
यो०शि०-योग शिखोपनिषद्
यो०सू०- योगसूत्र
वज्र०-वज्रसूचिकोपनिषद्
वटुको०- वटुकोपनिषद्
वसिष्ठ स्मृ०- वसिष्ठ स्मृति
वाच० - वाचस्पत्यम्
वात्स्या०-वात्स्यायनभाष्य
वायुपु०-वायु पुराण
विद्व०- विद्वन्मनोरञ्जनी
वि०पु०- विष्णुपुराण
वि०मार्त०- विवेक मार्तण्ड
वे०वि०- वेदान्त विमर्श
वे०सा०- वेदान्त सार
वे०सा०सु०- वेदान्त सार सुबोधिनी
व्या०भा०- व्यास भाष्य
श०क०- शब्द कल्पद्रुम
शत०ब्रा०- शतपथ ब्राह्मण
शाट्यायनी०- शाट्यायनीयोपनिषद्
शाण्डिल्यो०- शाण्डिल्योपनिषद्
शा० प०- शान्तिपर्व
शा०भा०- शाङ्कर भाष्य
शारीरको०- शारीरकोपनिषद्
श्रौ०प०नि०- श्रौत पदार्थ निर्वचनम्
श्वेता०- श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासो०-संन्यासोपनिषद्
सं०प्र०- सन्ध्याप्रयोग
सं०हि०को०- संस्कृत हिन्दी कोश
स०पा०- समाधि पाद
सां०यो०द०- सांग योग दर्शन
सा०- सामवेद
सा०पा०- साधन पाद
सा०भा०- सायण भाष्य
सि०कौ०- सिद्धान्त कौमुदी
सुबालो०- सुबालोपनिषद्
स्वसं०-स्वसंवेद्योपनिषद्
हंस०- हंसोपनिषद्
हठ०प्र०- हठयोग प्रदीपिका
हला०- हलायुध कोश
हि०वि०को०- हिन्दी विश्व कोश

ॐ

॥ अथर्वशिर उपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें सात कण्डिकाएँ हैं। कण्डिका क्र० १,२,३ में देवगणों द्वारा रुद्र रूप में परमात्म-सत्ता के साक्षात्कार का वर्णन और उनकी स्तुति है। उन्हें आदिकारण रूप; भूत, भविष्यत्, वर्तमान; पुरुष-अपुरुष-स्त्री, क्षर-अक्षर, गोप्य-गुह्य कहा गया है, वे ही चराचर जगत् को उनकी विशेषताओं से विभूषित करने वाले हैं। उन्हें ही ॐ तथा अ,उ, म् से भी परे कहा गया है। कण्डिका क्र. ४, ५ में उन्हें प्रणव रूप कहते हुए उनकी विशेषताओं, क्षमताओं और उपासना का महत्त्व बताया गया है। छठवीं कण्डिका में उन्हीं से सत, रज, तम आदि गुणों एवं मूल क्रियाशील तत्त्व 'आपः' की उत्पत्ति तथा उससे सृष्टि के विकास का वर्णन है। सातवीं कण्डिका में उपनिषद् के अध्ययन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देव ! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बिताएँ। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), ताक्ष्र्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायँस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्को भवानिति। सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति। सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत् सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माहमब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्च उदञ्चोऽहं अधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं सरस्वत्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव सर्वे मामेव स सर्वे स मां यो मां वेद स देवान्वेद स सर्वांश्च वेदान्साङ्गानपि ब्रह्म ब्राह्मणैश्च गां गोभिर्ब्राह्मणान्ब्राह्मण्येन हविर्हविषा आयुरायुषा सत्येन सत्यं धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा। ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छन् ते देवा रुद्रमपश्यन्। ते देवा रुद्रमध्यायंस्ततो देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुन्वन्ति॥ १॥

एक समय देवताओं ने स्वर्गलोक में जाकर रुद्र से पूछा- आप कौन हैं ? रुद्र ने उत्तर दिया- मैं एक हूँ, भूतकाल हूँ, वर्तमान काल हूँ और भविष्यत्काल भी मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में विद्यमान है, जो समस्त दिशाओं में सन्निविष्ट है, वह मैं ही हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य, व्यक्त और अव्यक्त, ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। मैं ही प्राची (पूर्व) और प्रतीची (पश्चिम), उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः आदि दिशाएँ तथा विदिशाएँ हूँ। पुमान् (पुरुष), अपुमान् (अपुरुष) और स्त्री भी मैं ही हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री और सरस्वती हूँ। त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् आदि छन्द भी मैं ही हूँ। मैं गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हूँ। मैं सत्य, गौ, गौरी, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हूँ। आपः और तेजस् भी मैं ही हूँ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भी मैं ही हूँ। अक्षर-क्षर, गोप्य (छिपाने योग्य) और गुह्य (छिपाया हुआ) भी मैं हूँ। अरण्य, पुष्कर (तीर्थ), पवित्र मैं हूँ। अग्र, मध्य, बाह्य और पुरस्ताद् (पूर्व) आदि दसों दिशाओं में अवस्थित और अनवस्थित ज्योतिरूप शक्ति मुझे ही मानना चाहिए और सब कुछ मुझमें ही व्याप्त जानना चाहिए। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह समस्त देवों और अङ्गों सहित समस्त वेदों को जानता है। मैं गौओं को गोत्व से, ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्व से, हवि को हविष्य से, आयु को आयुष्य से, सत्य को सत्यता से, धर्म को धर्म तत्त्व से तृप्त करता हूँ। यह सुनकर देवगणों ने रुद्र को देखा और उनका ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् भुजाएँ उठाकर इस प्रकार स्तुति की॥ १॥

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः॥ १॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः॥ २॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च स्कन्दस्तस्मै वै नमो नमः॥ ३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चेन्द्रस्तस्मै वै नमो नमः॥ ४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चाग्निस्तस्मै वै नमो नमः॥ ५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च वायुस्तस्मै वै नमो नमः॥ ६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः॥ ७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ ९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ १०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भूस्तस्मै वै नमो नमः॥ ११॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च महस्तस्मै वै नमो नमः॥ १४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च पृथिवी तस्मै वै नमो नमः॥ १५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चान्तरिक्षं तस्मै वै नमो नमः॥ १६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च द्यौस्तस्मै वै नमो नमः॥ १७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्याश्चापस्तस्मै वै नमो नमः॥ १८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च तेजस्तस्मै वै नमो नमः॥ १९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चाकाशं तस्मै वै नमो नमः॥ २०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च कालस्तस्मै वै नमो नमः॥ २१॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च यमस्तस्मै वै नमो नमः॥ २२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमो नमः॥ २३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चामृतं तस्मै वै नमो नमः॥ २४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च विश्वं तस्मै वै नमो नमः॥ २५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्थूलं तस्मै वै नमो नमः॥ २६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सूक्ष्मं तस्मै वै नमो नमः॥ २७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च शुक्लं तस्मै वै नमो नमः॥ २८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च कृष्णं तस्मै वै नमो नमः॥ २९॥ यो वै रुद्रः स

भगवान्यच्च कृत्स्नं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सर्वं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥॥ २ ॥

हे भगवान् रुद्र! आप ब्रह्मा स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र! आप विष्णु स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। हे भगवान् रुद्र! आप स्कन्द रूप हैं, आपको नमन है। आप इन्द्र स्वरूप, अग्नि स्वरूप, वायु स्वरूप और सूर्य स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र! आप सोम स्वरूप हैं, अष्टग्रह स्वरूप, प्रतिग्रह स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप भूः स्वरूप, भुवः स्वरूप, स्वः स्वरूप और महः स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे रुद्र भगवान्! आप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः और आकाश रूप हैं, आपको नमस्कार है। हे रुद्र भगवान्! आप विश्वरूप, स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कृष्ण और शुक्ल स्वरूप हैं, आपको नमन है। आप सत्यरूप और सर्वस्वरूप हैं, आपको बारम्बार नमन है॥ २॥

भूस्ते आदिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा बद्धस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यस्य च।

हे रुद्र भगवान्! भूः, भुवः और स्वः लोक क्रमशः आपके नीचे, मध्य और शीर्ष के लोक हैं। आप विश्वरूप हैं और एक मात्र ब्रह्म हैं; किन्तु भ्रमवश दो और तीन संख्या वाले प्रतीत होते हैं। आप वृद्धि स्वरूप, शान्तिस्वरूप, पुष्टिरूप, हुत-अहुतरूप, दत्तरूप-अदत्तरूप,सर्वरूप-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, कृतरूप-अकृतरूप, पर-अपररूप और परायणरूप हैं। आपने हमें (देवों को) अमृत स्वरूप सोमपान कराकर अमृतत्व प्रदान किया है। हम ज्योति स्वरूप होकर ज्ञान को प्राप्त हुए हैं। अब कामादि शत्रु हमें क्षति नहीं पहुँचा सकते। आप मर्त्यों (मनुष्यों) के लिए अमृत तुल्य हैं।

[सोम स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म दिव्य ज्ञान रूप भी है। सोम रूप ज्ञान को आत्मसात् करके साधक स्वयं ज्योतित हो जाता है। तब दिव्य ज्ञान के साथ स्वाभाविक रूप से योग होता है और कामादि विकार प्रभावी नहीं हो पाते।]

सोमसूर्य पुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः। सर्वं जगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषमग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः। हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

हे देव! आप सोम (चन्द्र) और सूर्य से भी पूर्व उत्पन्न सूक्ष्म पुरुष हैं। आप सम्पूर्ण जगत् का हित करने वाले, अक्षर रूप, प्राजापत्य (प्रजापतियों द्वारा स्तुत्य), सूक्ष्म, सौम्य पुरुष हैं, जो अपने तेज से अग्राह्य को अग्राह्य से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रस लेते हैं, ऐसे महाग्रास करने वाले आप (रुद्र भगवान्) को नमस्कार है। सभी हृदयों में देवगण, प्राण और आप विराजते हैं।

[मनुष्य के अन्तस् में जीवन ऊर्जारूप प्राणों, दिव्य संवेदना रूप देवगणों तथा आत्म चेतन रूप में परमात्मा का आवास ऋषि अनुभव करते हैं। उन्हें उनसे सम्बन्धित अनुशासनों के माध्यम से सक्रिय एवं फलित किया जा सकता है।]

हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः। तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओङ्कारः य ओङ्कारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म यत्परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रो यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः॥ ३॥

. हृदय में विराजते हुए (वह) आप तीनों मात्राओं (अ, उ, म्) से परे हैं। (हृदय के) उत्तर में उसका सिर है, दक्षिण में पाद हैं, जो उत्तर में विराजमान है, वही ओंकार है। ओंकार को ही 'प्रणव' कहते हैं और प्रणव ही सर्वव्यापी है। वह सर्वव्यापी प्रणव ही अनन्त है। जो अनन्त है, वही तारक स्वरूप है। जो तारक है, वही सूक्ष्म स्वरूप है। जो सूक्ष्म स्वरूप है, वही शुक्ल है। जो शुक्ल (प्रकाशित) है, वही विद्युत् (विशेष रूप से द्युतिमान्) है। जो विद्युत् है, वही परब्रह्म है। जो परब्रह्म है, वही एक रूप है। जो एक रूप है, वही रुद्र है। जो रुद्र है, वही ईशानरूप है। जो ईशान है, वही भगवान् महेश्वर है॥ ३॥

[ऋषि यहाँ 'स्व'-जीव चेतना, ईश- नियामक चेतना तथा महेश्वर-परमात्म चेतना तीनों की एकरूपता का आभास करा रहे हैं।]

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसो ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वान् लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी। अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते च तस्मादुच्यते शुक्लम्। अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एवाव्यक्ते महति तमसि द्योतयते तस्मादुच्यते वैद्युतम्। अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणं च बृहद्बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। अथ कस्मादुच्यते एको यः सर्वान्प्राणान्संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति च। तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यञ्च उदञ्चःप्राञ्चोऽभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः। साकं स एको भूतश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यत एकः। अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यतें तस्मादुच्यते रुद्रः। अथ कस्मादुच्यते ईशानः यःसर्वान्देवानीशते ईशनीभिर्जननीभिश्च परम शक्तिभिः। अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष इति तस्मादुच्यत ईशानः। अथ कस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः यस्माद्भक्ताज्ञानेन भजन्त्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान्भावान्परित्यज्यात्मज्ञानेन योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः। तदेतद्रुद्रचरितम्॥ ४॥

ॐकार किस कारण से कहा जाता है? यह इसलिए कहा जाता है कि ॐकार उच्चारित करने में श्वास (प्राणों) को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है। प्रणव इसलिए कहा जाता है कि इसका उपयोग (उच्चारण) ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस और ब्राह्मणों को प्रणाम करने के लिए किया जाता है। इसीलिए इसका नाम 'प्रणव' ऐसा हुआ है। इसे सर्वव्यापी क्यों कहा जाता है? इसलिए कि जिस प्रकार तिल में तेल विद्यमान (संव्याप्त) है, उसी प्रकार यह अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, इसी कारण 'सर्वव्यापी' ऐसा कहा

जाता है। इसका नाम अनन्त इसलिए है कि इस 'शब्द' का उच्चारण करते हुए ऊपर-नीचे और तिरछे कहीं भी इसका अन्त प्रतीत नहीं होता। 'तारक' नाम इसलिए दिया गया है कि यह गर्भ, जन्म, व्याधि, वृद्धावस्था और मरण से युक्त संसार के भय से तारने वाला है। इसका नाम 'शुक्ल' इसलिए है कि यह स्व प्रकाशित है, अन्यों के लिए प्रकाशक है। इसे 'सूक्ष्म' इस कारण कहा जाता है कि इसका उच्चारण करने पर यह सूक्ष्म स्वरूप होकर स्थावर आदि सभी शरीरों में अधिष्ठित होता है। इसे 'वैद्युत' कहने का कारण यह है कि इसका उच्चारण करने से घोर अन्धकार (अज्ञान) की स्थिति में भी समग्र काया (स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि) विशेष रूप से द्युतिमान् हो जाती है। परब्रह्म कहने का कारण यह है कि वह पर, अपर और परायण (इन तीनों) बृहत् (व्यापक घटकों) को बृहत्या (विशालता के माध्यम से) व्यापक बनाता है।

[ऋषि द्वारा परमात्म-सत्ता को परब्रह्म कहने का तात्पर्य प्रकट किया गया है- पर+ब्रह्म के संयोग से परब्रह्म बना है। जो पर (अव्यक्त) है तथा जो अपर (व्यक्त) है, वे एक दूसरे के परायण-एक दूसरे के प्रति जागरूक-परस्पर पूरक हैं। इस भाव को प्रथम पद 'पर' से प्रकट किया गया है। जो बृहत्-विशाल है तथा विशालता (संकीर्णता से मुक्तभाव) से सभी घटकों को व्यापकता प्रदान करता है, उसके लिए दूसरा पद 'ब्रह्म' प्रयुक्त किया गया है।]

इसे (ब्रह्म को) एक इसलिए कहा जाता है कि यह समस्त प्राणों का भक्षण करके 'अज' स्वरूप होकर उत्पत्ति और संहार करता है। समस्त तीर्थों में वह 'एक' ही (तत्त्व) विद्यमान है। अनेक लोग पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के विभिन्न तीर्थों में परिभ्रमण करते हैं। वहाँ भी उनकी सद्गति का कारण वह एक ही (तत्त्व) है। समस्त प्राणियों में एक रूप में निवास करने के कारण उस तत्त्व को 'एक' कहते हैं। 'रुद्र' इसलिए कहा जाता है कि इसके स्वरूप का ज्ञान ऋषियों को सहज ही हो सकता है। सामान्य जनों को इसका ज्ञान हो सकना कठिन है। 'ईशान' क्यों कहते हैं, इसलिए कि वह समस्त देवों और उनकी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व (ईशत्व) रखता है। (सो हे रुद्र!) आप शूर की हम उसी प्रकार स्तुति करते हैं, जिस प्रकार दुग्ध प्राप्त करने के लिए गौ को प्रसन्न किया जाता है। (हे रुद्र!) आप ही इन्द्र रूप होकर स्थावर-जंगम संसार के ईश और दिव्य दृष्टि सम्पन्न हैं, इसी कारण आपको 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया जाता है। आपको भगवान् महेश्वर क्यों कहते हैं? इसलिए कि जो भक्तजन ज्ञान पाने के लिए आपका भजन करते हैं और आप उन पर कृपा-वर्षण करते हैं, वाक् शक्ति का प्रादुर्भाव करते हैं, साथ ही समस्त भावों का परित्याग करके आत्मज्ञान और योग के ऐश्वर्य से अपनी महिमा में स्थित रहते हैं, इसीलिए आपको 'महेश्वर' कहा जाता है। इस प्रकार इस रुद्र के चरित का वर्णन हुआ॥ ४॥

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाःपूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता। यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं संचरति विचरति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। क्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जेन पशवोऽनुनामयन्तं मृत्युपाशान्। तदेतेनात्मन्नेतेनार्ध-चतुर्थमात्रेण शान्तिं संसृजति पाशविमोक्षणम्। या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्ब्राह्मं पदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम्। या साऽर्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं

विचरति शुद्धस्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम् तदेतमुपासीत मुनयोऽर्वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्था विहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति। बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम्। तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम्। यस्मिन्क्रोधं यां च तृष्णां क्षमां च तृष्णां हित्वा हेतुजालस्य मूलम्। बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ता। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वꣳह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि यस्माद्व्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय॥ ५॥

एक ही ऐसा देवता है, जो समस्त दिशाओं में निवास करता है। सर्वप्रथम उसी का आविर्भाव हुआ। वही मध्य और अन्त में स्थित है। वही उत्पन्न होता है और आगे भी उत्पन्न होगा। प्रत्येक में वही संव्याप्त हो रहा है। अन्य कोई नहीं, केवल एक रुद्र ही इस लोक का नियमन (नियंत्रण) कर रहा है। समस्त प्राणी उसी के अन्दर निवास करते हैं और अन्ततः सबका उसी में विलय भी होता है। विश्व का उद्भव और संरक्षण-कर्त्ता भी वही है, जो समस्त जीवों में संव्याप्त हो रहा है और समस्त प्राणी जिसमें संव्याप्त हो रहे हैं, उस 'ईशान' देव के ध्यान से मनुष्य को परम शान्ति का लाभ मिल सकता है। समस्त प्रपञ्चों के हेतु भूत-अज्ञान का परित्याग करके संचित कर्मों को बुद्धि के द्वारा रुद्र में अर्पित करके परमात्मा का एकत्व प्राप्त होता है।

जो शाश्वत और पुराण पुरुष अपनी सामर्थ्य से अन्न आदि प्रदान करके प्राणियों को मृत्युपाश से मुक्त करता है। वही आत्मज्ञान प्रदान करने वाला ॐ चतुर्थ मात्रा से शान्ति प्रदाता और बन्धन मुक्ति प्रदाता है। उन रुद्रदेव की प्रथम मात्रा ब्रह्मा की है, जो लाल वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से ब्रह्मपद प्राप्त होता है। दूसरी मात्रा विष्णु की है, जो कृष्ण वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से विष्णु पद की प्राप्ति होती है। तृतीय मात्रा ईशान की है, जिसका वर्ण पीला है, उसका ध्यान करने से ईशान पद की प्राप्ति होती है। जो अर्ध चतुर्थ मात्रा है, वह समस्त देवों के रूप में अव्यक्त होकर आकाश में विचरण करती है, वह शुद्ध स्फटिक मणि के वर्ण की है, जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है। मनीषियों का कहना है कि इस अर्ध मात्रा की उपासना ही उचित है; क्योंकि इससे कर्मों के बन्धन कट जाते हैं। इस उत्तरायण (उत्तरी मार्ग) से ही देव, पितर और ऋषिगण गमन करते हैं। यही पर, अपर तथा परायण मार्ग है। बाल के अग्रभाग के तुल्य, सूक्ष्म रूप से हृदय में निवास करने वाले, विश्वरूप, देवरूप, समस्त उत्पन्न हुए लोगों को जानने वाले श्रेष्ठ परमात्मा को जो ज्ञानी जन अपने अन्दर देखते हैं, वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं, अन्य किसी को वह शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तृष्णा, क्रोध आदि हेतु समूह के मूल का परित्याग करके संचित कर्मों का बुद्धिपूर्वक रुद्र में स्थापन करने से रुद्र से एकत्व प्राप्त होता है। रुद्र ही शाश्वत और पुराण (प्राचीन) हैं। अस्तु, वे अपनी शक्ति और तप से सबके नियंत्रक हैं। अग्नि, वायु, जल, स्थल (भूमि) और आकाश ये सभी भस्म रूप हैं। भगवान् पशुपति (बंधन से बँधे प्राणियों के स्वामी) की भस्म का जिसके अङ्ग में स्पर्श नहीं हुआ, वह भी भस्म के समान ही है। इस प्रकार पशुपति रुद्र की ब्रह्मरूप-भस्म पशु (प्राणियों) के बन्धनों को काटने वाली है॥ ५॥

[पदार्थ अपने रूप में इसलिए रहता है कि उसमें कणों को जोड़े रहने वाली प्रवृत्ति (वाइन्डिंग टैण्डेन्सी) सक्रिय होती है। भस्म बनने पर उसका वह रूप समाप्त हो जाता है; क्योंकि उसकी वह बाँधे रहने वाली क्षमता समाप्त हो जाती है। पशुपति के रूप में वही आदि सत्ता जीव को काया के साथ बाँधे रहती है तथा ब्रह्मरूप में वही सत्ता बाँधे रहने की प्रवृत्ति से मुक्त रहती है, इसीलिए परब्रह्म को रूप, गुण के बन्धन से मुक्त भस्मरूप कहा गया है।]

योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये। यो रुद्रोऽग्नौ यो रुद्रोप्स्वन्तर्यो रुद्र ओषधीर्वीरुध आविवेश। यो रुद्र इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। यो रुद्रोऽप्सु यो रुद्र ओषधीषु यो रुद्रो वनस्पतिषु। येन रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधाधर्ता धारिता नागा येऽन्तरिक्षे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयन् पवमानोऽधि शीर्षतः। तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुज्झितः। तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्तमथो मनः। न च दिवो देवजनेन गुप्ता नचान्तरिक्षाणि न च भूम इमाः। यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं यस्मादन्यन्न परं किंचनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत्। सहस्रपादेकमूर्धा व्याप्तं स एवेदमावरीवर्ति भूतम्। अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान्रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजाः। उच्छ्वसिते तमो भवति तमस आपोऽप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति, फेनादण्डं भवत्यण्डाद्ब्रह्मा भवति, ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकार ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति। अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्ध्रुवम्। एतद्धि परमं तप आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों नम इति ॥ ६ ॥

जो रुद्र, अग्नि और जल में निवास करते हैं। वे ही ओषधियों और वनस्पतियों में भी प्रविष्ट हो गये हैं। जिनके द्वारा यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है, उन अग्नि रूप रुद्र को नमन है। जो रुद्रदेव, अग्नि, ओषधियों तथा वनस्पतियों में वास करते हैं और जिनके द्वारा विश्व और समस्त भुवनों का सृजन किया जाता है, उन्हें नमस्कार है। जो रुद्रदेव जल, वनस्पतियों और ओषधियों में विराजमान हैं, जिनके द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया गया है, जो रुद्र द्विधा (शिव और शक्ति) तथा त्रिधा (सत्, रज, तम) से इस पृथिवी को संचालित करते हैं, जिनने नागों (बादलों) को अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित कर रखा है, उन्हें नमन है। भगवान् रुद्र की प्रणवरूप मूर्धा की उपासना करने वाले अथर्वा की उच्च स्थिति प्राप्त करते हैं और उपासना न करने वाले निम्न स्थिति में ही रहते हैं। समस्त देवताओं का सामूहिक स्वरूप रुद्र भगवान् का सिर ही है। उनका प्राण मन और मस्तक का रक्षक है। पृथिवी, आकाश अथवा स्वर्ग का संरक्षण करने में देवता स्वयं समर्थ नहीं हैं। सभी कुछ रुद्र भगवान् में ही समाहित है, उनसे परे कुछ भी नहीं है, उनसे पूर्व भी कुछ नहीं था। उनसे पूर्व भूतकाल में और उनसे आगे (भविष्यत्काल) में भी कुछ नहीं है। सहस्रपद और एक मस्तक वाले रुद्र समस्त भूतों में संव्याप्त हैं।

[रुद्र का संकल्प निर्धारण एक ही है। अस्तु, उन्हें एक सिर वाला कहा गया है। उनकी गतिशीलता के हजारों पक्ष हैं, इसलिए उन्हें सहस्रपाद कहा गया है।]

अक्षर से काल की उत्पत्ति होती है और काल से वह व्यापक कहलाता है। व्यापक और शोभायमान रुद्र जब शयन करने लगते हैं, तब समस्त प्रजा (प्राणि समुदाय) का संहार हो जाता है। जब भगवान् रुद्र श्वास लेते हैं, तो तम उत्पन्न हो जाता है। तम से आपः तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। उस आपः को (रुद्र द्वारा) अपनी अङ्गुली द्वारा मथे जाने पर शिशिर (आपः तत्त्व का जमा हुआ गाढ़ा रूप) उत्पन्न होता है। उस शिशिर के मथे जाने पर फेन उत्पन्न होता है, फेन से अण्डा और अण्डे से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् ब्रह्मा से वायु और वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री प्रकट होती हैं। सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों का उद्भव

होता है। जब वे (रुद्र) तप करते हैं, तब सत्यरूपी मधु क्षरित होता है, जो शाश्वत होता है। यह परम तप है। आपः, ज्योतिः, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः और स्वः रूप परब्रह्म को नमस्कार है॥ ६॥

[इस कण्डिका में आपः का अर्थ जल करना उचित नहीं है। वेद में आपः को सृष्टि का मूल क्रियाशील तत्त्व कहा गया है। आपः की उसी अवधारणा से मन्त्र का भाव स्पष्ट होता है। इसी प्रकार शिशिर का अर्थ ऋतु विशेष यहाँ उचित नहीं है। शिशिर का अर्थ जमा हुआ भी होता है, इसी भाव से मन्त्रार्थ स्पष्ट होता है। गाढ़े आपः तत्त्व को मथने से फेन अर्थात् फूला हुआ पदार्थ पैदा होता है। वेद और विज्ञान दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि प्रारम्भिक मूल पदार्थ का घनत्व अत्यधिक था। उसे फुलाकर हलका करने पर ही वह सृष्टि के योग्य बना। ब्रह्माण्ड फेन रूप ही है। इसी प्रकार अण्ड का अर्थ अण्डा नहीं ब्रह्माण्ड ही उचित है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सृजनशील 'ब्रह्मा' का विकास होता है, तब दृश्य सृष्टि बनती है। वायु से ओंकार की उत्पत्ति भी विवेक सम्मत है। ओंकार एक ध्वनि विशेष है। ध्वनि की उत्पत्ति वायु से ही होती है। इसी क्रम से ऋषि ने सृष्टि के विकास के चरण स्पष्ट किये हैं।]

य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति अनुपनीत उपनीतो भवति सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सूर्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति स सर्वैर्वेदैरनुध्यातो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आ चक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आ सप्तमात्पुरुषयुगान्पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरः सकृज्जप्त्वैव शुचिः स पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यमवाप्नोति। तृतीयं जप्त्वैवमेवानुप्रविशत्यों सत्यमों सत्यम्॥ ७॥

जो ब्राह्मण इस अथर्वशिर उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय न हो, तो भी श्रोत्रिय हो जाता है। अनुपवीत व्यक्ति, उपवीत सम्पन्न हो जाता है। वह अग्नि के समान, वायु के समान, सूर्य के समान, सोम के समान और सत्य के समान पवित्र हो जाता है। वह समस्त देवों का ज्ञाता, समस्त वेदों का अध्येता और समस्त तीर्थों का स्नातक हो जाता है, वह समस्त यज्ञों के पुण्य का फल तथा साठ हजार गायत्री मन्त्र के जप का फल प्राप्त करता है। उसे इतिहास और पुराणों के अध्ययन का, एक लक्ष रुद्र के जप का तथा दस हजार प्रणव के जप का प्रतिफल प्राप्त होता है। उसका दर्शन पाकर लोग पवित्र हो जाते हैं। वह अपने पूर्व की सात पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। भगवान् ने कहा कि अथर्वशिर के एक बार के जप से साधक पवित्र होकर कल्याण कर्म का अधिकारी बन जाता है। दूसरी बार जप करने से गाणपत्य पद प्राप्त करता है तथा तृतीय बार जप करने से वह सत्यरूप ओंकार में प्रविष्ट हो जाता है। यह सत्यरूप ओंकार ही (त्रिकाल) सत्य है॥ ७॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः॥

॥ इति अथर्वशिर उपनिषत्समाप्ता॥

॥ अध्यात्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें अपने नाम के अनुरूप आत्म तत्त्व के साक्षात्कार का विषय प्रतिपादित है। अज (अजन्मा) रूप में यह सभी चराचर घटकों में संव्याप्त है; किन्तु वे (प्राणी) इसे नहीं जानते। यह समझाते हुए 'सोऽहम्' एवं 'तत्त्वमसि' आदि सूत्रों के आधार पर शरीर और विकारों से ऊपर उठकर आत्म साधना में रत रहने का निर्देशन किया गया है। स्वप्न-सुषुप्ति आदि स्थितियों से ऊपर उठते हुए निर्विकल्प समाधि अवस्था में परमात्म तत्त्व से एक रस होने की बात कही गयी है। इस समाधि अवस्था को 'धर्ममेघ' कहकर उसी में सभी वृत्तियों को लीन करके मुक्ति अवस्था पाने का सुझाव दिया गया है। जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हुए उस स्थिति में प्रारब्ध कर्म के भी समाप्त हो जाने की बात समझायी गयी है; लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त अवस्था पाने के पूर्व किए गये कर्मों का प्रारब्ध फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन्द्रिय वृत्तियों की तरह प्रारब्ध कर्म भी केवल देहाभिमानियों को ही बाँधते हैं। गुरु-अनुशासन का अनुगमन करके शिष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर उसका क्या प्रतिफल प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए इस औपनिषदीय ज्ञान के हस्तान्तरण की परम्परा बतायी गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः। अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि। अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया॥ १॥

शरीर के अन्दर स्थित हृदय रूपी गुहा में एक (अद्वितीय), अज (कभी जन्म न लेने वाला), नित्य (शाश्वत) निवास करता है। पृथिवी इसका शरीर है, यह पृथिवी के अन्दर रहता है; किन्तु पृथिवी इस (अज) को नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में निवास करता है, पर जल को उसका ज्ञान नहीं है। तेज

जिसका शरीर है, जो तेज के अन्तर्गत संचरित होता है, पर तेज जिसे (जिसका संचरित होना) नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, जो वायु के अन्दर संचरित होता है, पर वायु जिसे नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है, पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में संचरित होता है, पर मन जिसे नहीं जानता। बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में निवास करता है, पर बुद्धि जिसे जानती नहीं। जिसका शरीर अहंकार है, जो अहंकार में निवास करता है, पर अहंकार जिसे जानता नहीं। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त जिसे जानता नहीं। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में संचरित होता है, पर अव्यक्त जिसे जानता नहीं। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है,पर अक्षर जिसे जानता नहीं। जिसका शरीर मृत्यु है, जो मृत्यु में संचरित होता है, पर मृत्यु जिसे जानती नहीं—वही सर्वभूतों में स्थित उनका अन्तरात्मा है, वह निष्पाप है और वही एक दिव्य देवनारायण है। शरीर और इन्द्रियादि अनात्म विषय हैं। इनके विषय में 'मैं और मेरा का भाव' अध्यास (भ्रान्ति) मात्र है, इसलिए विद्वान् को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा इस अध्यास (भ्रान्ति) को दूर करे॥ १॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्। सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत्॥२

अपने को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी मानकर स्वयं को प्रत्यगात्मा समझे। वह मैं ही हूँ। इस 'सोऽहम्' वृत्ति से अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों से आत्म बुद्धि का परित्याग कर दे॥ २॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्। शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥ ३

लोकानुवर्तन (संसार का अनुसरण) छोड़कर देहानुवर्तन भी त्याग देना चाहिए। देहानुवर्तन के पश्चात् शास्त्रानुवर्तन भी त्याग दे, इसके बाद आत्म-अध्यास (आत्म-भ्रान्ति) का भी परित्याग कर देना चाहिए॥ ३॥

[मनुष्य प्रारम्भ में लोक, देह, शास्त्र आदि के माध्यम से सत्यानुगमन का प्रयास करता है। जैसे-जैसे सत्य का स्वरूप समझ में आता रहता है, वैसे-वैसे स्थूल आधारों का सहारा लेने की आवश्यकता घटती जाती है। इस तथ्य को न समझने वाले लोग मर्यादाएँ तोड़ने लगते हैं। ऋषि का भाव मर्यादा त्याग नहीं, स्थूल आधारों से ऊपर उठने का है।]

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः॥ ४॥

सदा अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर युक्ति, श्रुति (श्रवण) और स्वानुभूति द्वारा सबको अपना ही आत्म स्वरूप जानकर योगी पुरुष का मन (संकीर्ण भाव) विनष्ट होता है॥ ४॥

[मन जब तक संकीर्णता से ग्रस्त रहता है, तब तक मेरे-तेरे के बचकाने भाव आते हैं। व्यक्तिगत संकीर्णता से योगी का मन मुक्त हो जाता है, वह समष्टि मन का अंग बन जाता है।]

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः। क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि॥ ५॥

निद्रा, लोकवार्ता, शब्दादि विषयों तथा आत्म विस्मृति का कभी अवसर न आने देकर आत्मा में आत्मा का चिन्तन करना चाहिए॥ ५॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः। त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव॥ ६॥

माता और पिता के मल (मैल) से उत्पन्न हुए इस शरीर को, जिसमें मल और मांस भरा है, इसे चाण्डाल के समान दूर करके (काया के साथ स्व के बोध को त्यागकर) ब्रह्मरूप होकर कृतार्थ हो॥ ६॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि। विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने॥ ७॥

हे मुने! महाकाश में घटाकाश के समान परमात्मा में आत्मा को विलीन (एकरूप) करके अखण्ड भाव से सदैव शान्त रहो॥ ७॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना। ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्॥ ८॥

स्वप्रकाशित, स्वयंभू और अधिष्ठान (ब्रह्म) रूप होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का भी विष्ठा पात्र के समान परित्याग (उसके साथ स्वानुभूति का त्याग) कर देना चाहिए॥ ८॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम्। निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा॥ ९॥

शरीर के ऊपर आरूढ़ अहं बुद्धि को सदानन्द और चित्त स्वरूप आत्मा में लगाकर लिङ्ग (स्वज्ञानचिह्न) को छोड़कर सर्वदा केवल आत्मरूप हो (जाओ)॥ ९॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ॥ १०॥

हे निष्पाप! जिस प्रकार (छोटे से, किन्तु स्वच्छ) दर्पण में (विशाल) पुर (नगर) दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा जानकर कृतार्थ हो (जाये)॥ १०॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते। चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः॥११॥

अहंकार से मुक्त हुआ पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा के समान विमल होकर पूर्ण सदानन्द और स्वप्रकाश बनता है॥ ११॥

क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः। वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते॥

(सांसारिक) क्रियानाश से चिन्ता विनष्ट होती है और चिन्तानाश से वासना का क्षय होता है। वासना का विनष्ट हो जाना मोक्ष है और इसे ही जीवन्मुक्ति भी कहते हैं॥ १२॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनम्। सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालयमश्नुते॥ १३॥

जो सर्वत्र सब तरफ सभी को मात्र 'ब्रह्म' रूप में देखता है और जिसकी सद्भावना दृढ़ हो गई है, उसकी वासना का लय हो जाता है अर्थात् वासना विनष्ट हो जाती है॥ १३॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः॥ १४॥

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है (अपनी आत्मा के अनुसन्धान को छोड़कर जीवन बिताना प्रमाद है), ऐसा विद्या के ज्ञाता (विद्यावान्) ब्रह्मवादी कहते हैं॥ १४॥

यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति। आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥१५॥

जिस प्रकार शैवाल को पानी के ऊपर से कुछ हटा देने के बाद वह क्षण मात्र भी वहाँ नहीं ठहरती (और पूर्ववत् पानी को ढक लेती है), उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति भी यदि ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी हट जाये या दूर हो जाये, तो माया उसे आवृत कर लेती है॥ १५॥

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ॥१६॥

जिसे जीवित स्थिति में ही कैवल्यावस्था प्राप्त हो गयी हो, वह विदेह (देहरहित) होने पर केवल (ब्रह्म) ही रहेगा। इसलिए हे निष्पाप! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प (विकल्परहित) बनो॥ १६॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा। समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम्॥ १७॥

जिस समय निर्विकल्प समाधि से अद्वैत आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञान रूपा ग्रन्थि का पूर्णरूपेण विनाश और विलय हो जाता है॥ १७॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन्। उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत्॥ १८॥

आत्मत्व अर्थात् आत्मभाव को दृढ़ करके, अहंकारादि का परित्याग करके उनसे उसी प्रकार से उदासीन रहे, जिस प्रकार बरतन-वस्त्रादि के प्रति उदासीन भाव रखा जाता है॥ १८॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः। ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम्॥ १९॥

ब्रह्मा से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं, इसलिए सदा एक स्वरूप में अवस्थित रहने वाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना चाहिए॥ १९॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुःस्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः। स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन॥२०

स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं विश्व और स्वयं ही यह सब कुछ है। स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ २०॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः। स्वयमेव परंब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्॥ २१॥

अपनी आत्मा में समस्त वस्तुओं का आभास (रस्सी में सर्प की तरह) केवल आरोपित है, उसका निराकरण (निरसन) कर देने से वह स्वतः पूर्ण, अद्वैत और अक्रिय (क्रियारहित) परब्रह्म बन जाता है॥ २१॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः॥ २२

एक ही आत्मा रूपी वस्तु में जो यह विकल्प (भेद) प्रतीत होता है, वह प्रायः मिथ्या है; क्योंकि निर्विकार, निराकार और निर्विशेष में भेद ही कहाँ है?॥ २२॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये। कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि॥ २३॥

वह चैतन्य (आत्मा) द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि भावों से शून्य है, जो निरामय (निर्दोष) तथा प्रलय-कालीन सागर की तरह परिपूर्ण है॥ २३॥

तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम्। अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः॥२४॥

जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अद्वितीय परम तत्त्व में भ्रान्ति का कारण भी विलुप्त हो जाता है। वह आत्मा अवयव रहित है, अस्तु, उसमें भेद कहाँ है? ॥ २४॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्त्ता कथं वसेत्। सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः॥२५॥

एकात्मक परमतत्त्व में भेदकर्त्ता किस प्रकार रह सकता है? सुषुप्तावस्था में सुख मात्र है, उसमें भेद किसके द्वारा देखा गया है॥ २५॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन। अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि॥ २६॥

इस विकल्प (भेद) का मूल कारण चित्त है। यदि चित्त न हो, तो कोई भी विकल्प नहीं है। अतः प्रत्यग् रूप परमात्मा में अपने चित्त को समाधिस्थ (समाहित) कर दो॥ २६॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः। बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि॥ २७॥

अखण्डानन्द रूप आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप जानकर, सदा इस आत्मा में ही बाहर और अन्दर आनन्द रस का आस्वादन करो ॥ २७॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥२८॥

वैराग्य का फल बोध (ज्ञान) है, ज्ञान का फल उपरति (विषयों से विरत होना) है और उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से प्राप्त शान्ति है॥ २८॥

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम्। निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः॥ २९॥

उपर्युक्त वस्तुओं में जो उत्तरोत्तर न हो, उससे पूर्व की वस्तु निष्फल है। विषयों से निवृत्ति ही परम तृप्ति है और आत्मा का आनन्द स्वयं ही अनुपम है॥ २९॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। पारोक्ष्यशबलःसत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः॥ ३०॥

मायारूप उपाधि से युक्त, जगत् का कारणरूप सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त, परोक्ष रूप से शबल (अर्थात् मायावेष्टित) ब्रह्म जो सत्यादि स्वरूप वाला है, वही 'तत्' शब्द से विख्यात है॥३०॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः। अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥३१॥

जो 'मैं' शब्द तथा प्रत्यय का आश्रय स्वरूप प्रतीत होता है, जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) 'त्वम्' शब्द से जाना जाता है॥३१॥

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः। अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते॥ ३२॥

ब्रह्म एवं जीव की क्रमशः माया और अविद्या—यह दो ऐसी उपाधियाँ हैं, जिनका परित्याग कर देने से अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही भासित होता है (दिखाई पड़ता है)॥ ३२॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्। युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥ ३३॥

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा उनके (जीव और ब्रह्म के एकत्व का) अर्थ और अनुसंधान करना 'श्रवण' है और जो कुछ सुना गया है, उसके अर्थ पर युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श करके अनुसंधान करना 'मनन' है॥ ३३॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥३४

श्रवण और मनन द्वारा सन्देह रहित हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतानत्व प्राप्त करना-यह 'निदिध्यासन' है॥ ३४॥

[ध्वनि का ऊँचा-नीचा, पैना या भारी होना उसके दोलन (फ्रीक्वेंसी) पर निर्भर करता है। समान दोलन वाले साज जब एक साथ बजते हैं, तो उसके स्वर एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। इसे ध्वनि दोलन का सुसंयोग (रैजोनेन्स ऑफ फ्रीक्वेंसी) कहते हैं। एकतानत्व का अर्थ यहाँ भावात्मक सुसंयोग (रैजोनेन्स) जैसा कुछ होना चाहिए।]

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्। निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥ ३५॥

इसके पश्चात् ध्याता और ध्यान का परित्याग करके ध्येय में ही चित्त को स्थापित करें। वायुरहित स्थान में रखे दीपक की तरह जब चित्त निश्चल बन जाए, यही समाधि है॥ ३५॥

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः। स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः॥ ३६॥

समाधि की अवस्था में वृत्तियाँ केवल आत्मगोचर होती हैं, इसके कारण प्रतीत नहीं होतीं; किन्तु समाधि में से उठे हुए साधक की उन उन्नत वृत्तियों का स्मरण द्वारा अनुमान लगाया जाता है॥ ३६॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः। अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥ ३७॥

इस अनादि जगत् में करोड़ों कर्म एकत्र हो जाते हैं, किन्तु समाधि के द्वारा उनका विलय हो जाता है और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है॥ ३७॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्त्रशः॥ ३८॥

उत्तम कोटि के योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्ममेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ के समान ही धर्मामृत रूप सहस्रों धाराओं की वर्षा करती है॥ ३८॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते। समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये॥ ३९॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासते। करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते॥ ४०॥

(जब) इस समाधि के द्वारा वासना का जाल पूर्णरूपेण लय को प्राप्त हो जाता है एवं जब पुण्य-पाप नामवाला कर्मसमूह समूल रूप से विनष्ट हो जाता है, तब (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों के माध्यम से पहले परोक्ष ज्ञान प्रतिभासित होता है और बाद में (वह) हस्तामलकवत् अपरोक्ष बोध (तत्त्वज्ञान) को प्रकट करता है॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः। अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः॥ ४१॥

(जब) भोगने योग्य पदार्थ की उपस्थिति में भी वासना उदित न हो, तब वैराग्य की स्थिति जान लेनी चाहिए और जब अहं भाव के उदय का अभाव हो जाए अर्थात् जब वैसी (अहंकार होने योग्य) परिस्थिति बन जाने पर भी अहं न आये, तब ज्ञान की परम स्थिति जाननी चाहिए॥ ४१॥

लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा। स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते॥ ४२॥

लीन वृत्तियाँ पुनः उदित न हों, तो वह उपरति की स्थिति समझनी चाहिए। इस स्थिति वाला यति 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है, जो सदा आनन्दानुभूति करता रहता है॥ ४२॥

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः। ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनि॥ ४३॥
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते। सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥४४॥

जिसका आत्मतत्त्व एकमात्र ब्रह्म में ही विलीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के अनुसंधान में लीन हुई वृत्ति जब विकल्प रहित (ऊहापोह रहित) और मात्र चैतन्यं रूप बन जाती है, तब उसे प्रज्ञा कहते हैं। वह (प्रज्ञा) जिसमें सर्वदा विद्यमान रहती है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है॥ ४३-४४॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके। यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४५॥

शरीर और इन्द्रियों में जिसका अहं भाव न हो तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी जिसका ममत्व न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४५॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः। प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४६॥

जो जीव और ब्रह्म में तथा ब्रह्म और सृष्टि में भेद बुद्धि नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४६॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४७॥

सज्जनों द्वारा पूजे जाने पर और दुर्जनों द्वारा ताड़ित किये जाने पर भी जिसमें समभाव बना रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४७॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः। अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः॥ ४८॥

जिसके द्वारा ब्रह्म तत्त्व जान लिया गया है, संसार के प्रति उसकी दृष्टि पूर्ववत् नहीं रहती। इसलिए यदि वह संसार को पूर्व के समान ही देखता है, तो यह जानना चाहिए कि वह अभी तक ब्रह्म भाव को समझा नहीं है और बहिर्मुख है॥ ४८॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते। फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो नहि कुत्रचित्॥४९॥

जब तक सुख आदि का अनुभव होता है, तब तक इसे प्रारब्ध भोग मानना चाहिए, क्योंकि कोई भी फल पूर्व में क्रिया करने के कारण ही उदित होता है। बिना क्रिया के कोई फल नहीं मिलता॥ ४९॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्। संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्॥५०

जिस प्रकार जाग्रत् हो जाने पर स्वप्न रूप कर्म विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने पर करोड़ों कल्पों से अर्जित (संचित) कर्म विलीन (नष्ट) हो जाते हैं॥ ५०॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा। न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः॥ ५१॥

योगी आकाश के सदृश अपने को असङ्ग और उदासीन जानकर भावी कर्मों में किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता॥ ५१॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते। तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते॥ ५२॥

जिस प्रकार सुरा कुम्भ में स्थित आकाश, सुरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर रूपी उपाधि के साथ संयुक्त रहने पर भी आत्मा उसके गुण-धर्मों से प्रभावित नहीं होता॥ ५२॥

ज्ञानोदयात्पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति। अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥ ५३॥

जिस प्रकार छोड़ा हुआ बाण निर्धारित लक्ष्य को बेधता ही है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होने से पूर्व (अज्ञान की स्थिति में) किये गये कर्म का फल अवश्य मिलता है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हो जाने से पूर्व जो कृत्य किये गये थे, उनका फल ज्ञान उत्पन्न हो जाने से विनष्ट नहीं होता॥ ५३॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ। न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥ ५४

बाघ समझकर (उसे मारने के लिए) छोड़ा गया बाण यह जान लेने पर कि 'यह बाघ नहीं गाय है', रुकता नहीं और वेगपूर्वक लक्ष्य वेध करता ही है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्म का फल मिलता ही है॥ ५४॥

अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते। तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥ ५५॥

'मैं अजर और अमर हूँ', इस प्रकार अपने आत्मरूप को जो स्वीकार कर लेता है, वह आत्मरूप में ही स्थित रहता है, फिर उसे प्रारब्ध कर्म की कल्पना ही कैसे हो सकती है॥ ५५॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः। देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः॥ ५६॥

प्रारब्ध कर्म उसी समय सिद्ध होता है, जब देह में आत्मभाव होता है; परन्तु देह में आत्मभाव रखना इष्ट नहीं है। अस्तु, देह के ऊपर आत्म बुद्धि का परित्याग करके प्रारब्ध कर्म का परित्याग करना चाहिए॥ ५६॥

प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य भ्रान्तिरेव हि॥ ५७॥ अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः। अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः॥ ५८॥

देह के प्रति भ्रान्ति ही प्राणी के प्रारब्ध की परिकल्पना है और आरोपित अथवा भ्रान्त धारणा से जो कल्पित हो, वह सत्य कैसे हो सकता है? जो सत्य नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो और जिसका जन्म नहीं है, उसका विनाश कैसे हो? अस्तु, जो असत् है, उसका प्रारब्ध कर्म कैसे बने?॥ ५७-५८॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि। तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्॥ ५९॥

यदि अज्ञान (देहासक्ति आदि) का पूर्ण विलय ज्ञान में हो जाये, तो फिर देह का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है, ऐसी शंका जड़ (स्थूल) बुद्धि वाले ही करते हैं॥ ५९॥

समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः। न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम्॥ ६०॥

बहिर्मुखी दृष्टि वाले (अज्ञानियों) को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध की बात कहती है। ज्ञानियों के लिए या देहादि की सत्यता प्रकट करने के लिए प्रारब्ध का उल्लेख नहीं किया गया है॥ ६०॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्। सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम्॥ ६१॥
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्। अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्॥ ६२॥
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्। अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्॥ ६३॥
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्। एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ६४॥

वस्तुतः परिपूर्ण, आदि-अन्तरहित, अप्रमेय, विकाररहित, सद्घन, चिद्घन, नित्य, आनन्दघन, अव्यय, प्रत्यग्, एकरस, पूर्ण, अनन्त, सब ओर मुख वाला, त्याग और ग्रहण न करने वाला, किसी आधार के ऊपर न

रहने वाला और किसी का आश्रय भी न लेने वाला, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म स्वरूप, निर्विकल्प, दोष-दुर्गुण रहित, अनिरूप्य (जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूप वाला), मन और वाणी द्वारा अगोचर, सत्समृद्ध, (सतोगुण की अधिकता वाला) स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अनीदृश (जिसकी किसी के साथ तुलना न की जा सके)—वह एक ही अद्वैत रूप ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ६०-६४॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्। ससिद्धः ससुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनात्मनि॥

इस प्रकार अपनी अनुभूति से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर (तू) सिद्ध हो और निर्विकल्प (विकल्प रहित) आत्मा से अपने को सुख पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित कर॥ ६५॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्॥ ६६॥

(गुरु के इस उपदेश से शिष्य को ज्ञान हो गया और वह कहने लगा -) जिस जगत् को अभी मैंने देखा था, वह कहाँ चला गया? किसके द्वारा वह हटा लिया गया? वह कहाँ लीन हो गया? बहुत आश्चर्य का विषय है कि अभी तो वह मुझे दिखाई पड़ रहा था, क्या वह अब नहीं है? ॥ ६६॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम्। अखण्डानन्दपीयूषपूर्ण ब्रह्ममहार्णवे॥ ६७॥

अखण्ड आनन्द रूप पीयूष से पूरित ब्रह्म रूप सागर में अब मेरे लिए क्या त्याग करने योग्य है? क्या ग्रहण करने योग्य है? अन्य कुछ है भी क्या? यह कैसी विलक्षणता है?॥ ६७॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्। स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः॥ ६८

यहाँ मैं न कुछ देखता हूँ, न सुनता हूँ और न ही कुछ जानता हूँ; क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप से अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित हूँ और स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ॥ ६८॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमहं हरिः। प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः॥ ६९॥

मैं सङ्ग रहित हूँ,अङ्ग रहित हूँ, चिह्न रहित और स्वयं हरि हूँ। मैं प्रशान्त हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण और चिरन्तन अर्थात् प्राचीन से प्राचीन हूँ॥ ६९॥

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः। शुद्धो बोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः॥ ७०॥

मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी और अव्यय हूँ। मैं शुद्ध बोधस्वरूप और केवल सदाशिव हूँ॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ। घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ। रैक्को रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्यंतन्निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्॥ ७१॥

यह विद्या (सदाशिव) गुरु ने अपान्तरतम नामक (देवपुत्र) ब्राह्मण को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को दी थी। ब्रह्मा ने घोर आङ्गिरस को दी। घोर आङ्गिरस ने रैक्क को दी। रैक्क ने राम (परशुराम) को दी। राम ने समस्त प्राणियों के लिए प्रदान की। यह निर्वाण (प्राप्त करने) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद का आदेश है। इस प्रकार यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) पूर्ण हुई॥ ७१॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इत्यध्यात्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ अवधूतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय है। इस उपनिषद् में सांकृति की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् दत्तात्रेय अवधूत स्थिति के स्वरूप और महत्ता का वर्णन करते हैं। अवधूत स्थिति में किस प्रकार श्रेष्ठ तत्त्व के समाहित होने से व्यक्ति धन्य हो जाता है, इसका वर्णन भी किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

अथ ह सांकृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ। भगवन्कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संसरणमिति। तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ॥१॥

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते॥ २॥

सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेयजी के समीप जाकर पूछा- 'हे भगवन्! अवधूत कौन है? उसकी स्थिति किस तरह की होती है? उसका लक्षण किस प्रकार का होता है? तथा उसका संसार (सांसारिक व्यवहार) किस प्रकार का होता है?' उनके इन प्रश्नों को सुनकर परम कृपालु भगवान् दत्तात्रेयजी ने कहा- जो अक्षर अर्थात् अविनाशी (भावयुक्त) हो, वरण करने योग्य हो, संसार रूपी बन्धनों से रहित हो तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ बोध से युक्त हो, उसे ही अवधूत (अक्षर का 'अ', वरेण्य का 'व', धूतसंसारबन्धन का 'धू' तथा तत्त्वमस्यादि लक्ष्य का 'त' लेने से 'अवधूत') कहा जाता है॥ १-२॥

यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते॥ ३॥

जो योगी पुरुष आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था से ऊपर उठकर आत्मा में ही सदैव स्थित रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी पुरुष 'अवधूत' कहा जाता है॥ ३॥

तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते॥४॥

उस (योगी) का प्रिय (ब्रह्म) ही सिर है, 'मोद' दायाँ बाजू और 'प्रमोद' बायाँ बाजू है तथा 'आनन्द' मध्य आत्मा है। उसकी (आत्मा की) स्थिति गाय के पैर के सदृश (चार-प्रिय, मोद, प्रमोद एवं आनन्द रूप) हो जाती है॥ ४॥

[यही प्रकरण तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५) में भी आया है।]

गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत्। एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम्॥ ५॥

उस सिर (हर्ष) में, अधः (मोद-प्रमोद) में तथा मध्य (आनन्द) में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए (आत्मा नहीं मानना चाहिए, तो किसे मानना चाहिए, इस पर कहते हैं कि) गोवाल (गौ की पूँछ) सदृश उस ब्रह्म की पुच्छ प्रतिष्ठा है, उस ब्रह्म को इसी पुच्छाकार में जानना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म को भलीप्रकार जानकर वे (योगीपुरुष) परमगति को प्राप्त करते हैं॥ ५॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥ ६॥

अमरत्व की प्राप्ति न तो विभिन्न कर्मों के द्वारा, न प्रजा के द्वारा और न ही धन के द्वारा होती है। एक मात्र त्याग के द्वारा ही अमरत्व को प्राप्त किया जा सकता है॥ ६॥

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ। सदा सांग्रहण्येष्ट्याश्वमेधमन्तर्यागं यजते। स महामखो महायोगः॥ ७॥

अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना ही उन योगियों का संसार है। उनमें से कितने ही तो वस्त्रों को धारण करते हैं और कितने ही दिगम्बर अर्थात् बिना वस्त्रों के ही रहते हैं। उन योगियों के लिए न कुछ धर्म है और न ही कुछ अधर्म है, पवित्र एवं अपवित्र आदि भी कुछ नहीं है। (इन्द्रियों को वश में करने के रूप में) सदा संग्रह की दृष्टि से वे (योगीजन) अन्तःकरण में (आत्मा का ध्यान रूप) अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं। यही उनका महायज्ञ और महायोग है॥ ७॥

[अन्तः स्थित परमात्म चेतना में बहिर्मुखी व्यक्त शक्ति धाराओं को समर्पित कर देना-विसर्जित कर देना ही आन्तरिक अश्वमेध कहा गया है। इसे ही महायज्ञ या महायोग भी कहा गया है।]

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म। स्वैरं न विगायेत्तन्महाव्रतम्। न स मूढवल्लिप्यते॥ ८॥

इस प्रकार उन योगियों का सम्पूर्ण चरित्र आश्चर्य युक्त होता है। उनके इस प्रकार के चित्र-विचित्र कर्मों की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यही उनका महाव्रत है। वे अज्ञानी मनुष्यों की भाँति (पाप-पुण्यादि में) लिप्त नहीं होते। वे सदैव निर्लिप्त भाव से इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं॥ ८॥

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥ ९॥

जिस प्रकार सूर्य सभी प्रकार के रसों को ग्रहण करता है तथा अग्नि सभी कुछ भक्षण कर लेता है, उसी प्रकार योगी पुरुष विषयादि भोगों का उपभोग करता हुआ भी शुद्ध होने के कारण पाप-पुण्यादि का भागीदार नहीं बनता॥ ९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ १०॥

जिस प्रकार चारों ओर से परिपूर्ण होने पर भी अचल प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले समुद्र में जल प्रविष्ट होता है, वैसे ही योगी पुरुष सभी विषय-भोगों के रहने पर भी अचल रहता है और शान्ति को प्राप्त करता है। विषय-भोगों की इच्छा करने वाला कामना युक्त मनुष्य वैसी शान्ति नहीं प्राप्त करता॥ १०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥११॥

अतः सत्य बात तो यह है कि किसी का (निरोध) लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई आबद्ध

(बँधा) हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई (मुमुक्षु) अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने वाला नहीं है तथा कोई मुक्त भी नहीं है, यही वास्तविक स्थिति है॥ ११॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये। बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम्॥ १२॥
तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्। दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया॥ १३॥
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया। अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः॥ १४॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्। व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा॥१५
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः। निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च॥१६
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात्। गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसार धर्मानेवमहं भजे॥ १७॥

इस लोक एवं परलोक के कृत्यों की सिद्धि के लिए, वैसे ही मुक्ति की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मुझे बहुत कुछ करना अत्यन्त आवश्यक था; परन्तु अब यह सभी कुछ हो चुका है। इस तरह से हर एक योग का मुख्यरूप से अनुसंधान करता हुआ वह अवधूत इसी में कृतकृत्य होता हुआ सदैव तृप्त होता रहता है। (इसके पश्चात् वह ध्यान करता हुआ कहता है-) अज्ञानीजन पुत्रादि की इच्छा से अत्यन्त दुःखी होकर संसार के आवागमन में फँसते रहे; किन्तु मैं तो परम आनन्द से परिपूर्ण हूँ, तब फिर कौन सी इच्छा के कारण इस संसार में पुनः फसूँ? जिन्हें परलोक गमन की इच्छा हो, वे लोग चाहे उस इच्छा से भले ही कर्म किया करें; परन्तु मैं समस्त लोकों का आत्मा हूँ, सर्वलोकमय बन गया हूँ, तो फिर मैं कोई भी कर्म क्यों करूँ। जिन लोगों को इस बात का अधिकार हो, वे भले ही प्रवचन किया करें, चाहे वेदों को पढ़ाते रहें, किन्तु मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं; क्योंकि मैं तो निष्क्रिय (क्रिया रहित) हूँ। मैं निद्रा की, भिक्षा की, स्नान अथवा शौच आदि की तनिक भी इच्छा नहीं करता। जो लोग द्रष्टा स्तर के हों, वे भले ही अन्य कोई कल्पना करें; परन्तु मुझे किसी अन्य की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं। अन्य लोग गुञ्जा (चिरमिरी) की लालिमा के कारण उसमें भले ही अग्नि को प्रतिष्ठित करें, किन्तु इस अग्नि से गुञ्जा का ढेर नहीं जलता है। तब फिर मेरे अन्दर तो संसार के धर्म आरोपित ही नहीं हैं, इस कारण मैं किसी का भी भजन नहीं करता॥ १२-१७॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥ १८॥

जो लोग तत्त्व को न जानते हों, वे भले ही कुछ भी श्रवण करें; किन्तु मैं (अवधूत) तो स्वयं ही तत्त्व को जानने में समर्थ हूँ। फिर किस लिए श्रवण करूँ ? जो लोग संशय में पड़े हों, वे मनन करें। मुझे तो किसी भी तरह का संशय ही नहीं है, इस कारण से मैं (अवधूत) मनन नहीं करता॥ १८॥

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम्॥ १९॥

जिसको विपर्यास अर्थात् विपरीत ज्ञान हुआ हो, वह भले ही निदिध्यासन करे; परन्तु जहाँ पर विपर्यास ही नहीं, वहाँ पर ध्यान की आवश्यकता नहीं होती। शरीर को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझ (अवधूत) को नहीं होता। इस कारण निदिध्यासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती॥ १९॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्। विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते॥ २०॥

मैं मनुष्य हूँ, इस तरह का व्यवहार भी बिना विपर्यास (विपरीत ज्ञान) के नहीं होता। यह विपर्यास भी दीर्घकाल से अभ्यास में पड़ी वासना के कारण ही होता है॥ २०॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते। कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ २१ ॥

प्रारब्ध कर्मों के विनष्ट होने पर ही यह व्यवहार निवर्तित (बन्द) होता है; किन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश न हुआ हो, तब तक सहस्रों बार चिन्तन करने के बाद भी यह व्यवहार शान्त नहीं होता॥ २१ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते। बाधिकर्मव्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥

यदि व्यवहार कर्म करने की इच्छा हो, तो तुम अपनी इच्छानुसार ध्यान करो; परन्तु मेरी दृष्टि में तो कर्मों का कोई व्यवहार ही नहीं, तो मैं किसलिए ध्यान करूँ॥ २२ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥

मुझे विक्षेप अर्थात् चित्त की अस्थिरता होती ही नहीं, इस कारण से मुझे समाधि-अवस्था की जरूरत ही नहीं पड़ती। जब यह मन विकारग्रस्त होता है, तब चित्त अस्थिर होता है और तभी समाधि की आवश्यकता होती है। मैं तो नित्य ही अनुभव रूप हूँ। समाधि में मुझे और क्या कुछ भिन्न अनुभव हो सकता है ?॥ २३ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्। कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४ ॥
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥ २५

मुझे जो-जो करना है, वह-वह मैंने किया तथा जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सदा ही प्राप्त करता रहा। इस कारण लौकिक, शास्त्रीय या फिर अन्य किसी भी तरह का व्यवहार मुझे क्यों करना चाहिए ? अतः मैं नहीं करता हूँ। मुझे किसी भी बात की लिप्तता नहीं है। सहज प्राकृतिक ढंग से जो होता है, उसी में रत रहता हूँ॥ २४-२५ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया। शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६ ॥

अथवा मैं कृत-कृत्य (पूर्णकाम) हूँ, तब भी साधारण लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्राज्ञानुसार मैं चलता हूँ, तो इसमें मेरी क्या हानि है ?॥ २६ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः। तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम्॥ २७ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्। साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२८ ॥

देवताओं की स्तुति- अर्चना, स्नान, शौच, शिक्षा आदि में शरीर भले ही लगा रहे। वाणी ॐकार रूपी प्रणव को भले ही जपती रहे, उपनिषदों का पाठ भले ही होता रहे, बुद्धि सदैव भगवान् विष्णु का चिन्तन भले ही करती रहे या फिर भले ही (वह) ब्रह्मलीन रहे; किन्तु मैं तो केवल साक्षी रूप हूँ। मैं (अवधूत) इनमें से किसी भी काम को कभी भी नहीं करता हूँ और न करवाता ही हूँ॥२७-२८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः। तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्॥ २९ ॥

मैं (अवधूत) कृत-कृत्य होने से पूर्ण तृप्त हूँ तथा जो कुछ भी मुझे प्राप्त करना था, वह सभी कुछ प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार से इस तृप्ति को ही मैं निरन्तर अपने मन में मानता रहता हूँ॥ २९ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥ ३० ॥

मैं धन्य हूँ-धन्य हूँ; क्योंकि मैं नित्य, अविनाशी अपने आत्म-तत्त्व को सहज रूप से ही जानता हूँ। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे ब्रह्म का आनन्द स्पष्टतया प्रकाश प्रदान करता है॥ ३० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥ ३१॥ धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र संपन्नम्॥ ३२॥ धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके। धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३॥ अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्। अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम्॥ ३४॥ अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्। अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः॥ ३५॥

मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मैं अब इस नाशवान् संसार का दुःख बिलकुल भी नहीं देखता। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरा अज्ञान कभी का (अर्थात् बहुत पहले ही) विनष्ट हो गया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे अब कुछ भी करना शेष नहीं है। मैं धन्य हूँ-मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सभी कुछ मैंने यहीं पर पहले ही प्राप्त कर लिया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरी तृप्ति की क्या इस लोक में कोई उपमा है (अर्थात् कोई नहीं है)। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; मैं बारम्बार धन्य हूँ- धन्य हूँ। अहो पुण्य! अहो पुण्य!! इस पुण्य की सफलता दृढ़तापूर्वक फलीभूत हुई है। धन्य हैं हम सब। अहो ज्ञान! अहो ज्ञान!! अहो सुख! अहो सुख!! अहो शास्त्र! अहो शास्त्र!! अहो गुरु! अहो गुरु!! (वास्तव में सफल होने के कारण सब धन्यवाद के पात्र हैं)॥ ३१-३५॥

इति य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। ब्रह्महत्यात्पूतो भवति। कृत्याकृत्यात्पूतो भवति। एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयादोंसत्यमित्युपनिषत्॥ ३६॥

इस प्रकार जो भी मनुष्य इस उपनिषद् का पाठ करता है, वह कृत-कृत्य हो जाता है। मदिरापान करने वाला, सुवर्ण की चोरी करने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, कृत्याकृत्य (अर्थात् कार्य-अकार्य) करने वाला भी इसका (भावनापूर्वक) पाठ करने से पवित्र (श्रेष्ठ प्रकृतियों वाला) हो जाता है। मनुष्य इसका पाठ करने मात्र से पवित्र हो जाता है। मनुष्य इस तरह का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार (आत्म प्रेरणा से ही श्रेष्ठता-पवित्रता की दिशा में) प्रवृत्त हो जाता है। ॐ (ब्रह्म) ही सत्य है, यही उपनिषद् है॥ ३६॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति अवधूतोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ आत्मपूजोपनिषद् ॥

इस उपनिषद् में काया में स्थित आत्म तत्त्व की-आत्मदेव की पूजा-उपासना की विधि समझायी गयी है। जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों को ही पूजा-आराधना बना लेने का कौशल समझाया गया है, इसी से मोक्ष प्राप्ति का कल्याणकारी पथ भी प्रशस्त होता है।

ॐ तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चलज्ञानमासनम्। समुन्मनीभावः पाद्यम्। सदामनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम्। वराकृतप्राप्तिः स्नानम्। सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः। दृगविशिष्टात्मानः अक्षताः। चिदादीप्तिः पुष्पम्। सूर्यात्मकत्वं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। परमेश्वरस्तुतिर्मौनम्। सदासन्तोषो विसर्जनम्। एवं परिपूर्णराजयोगिनः सर्वात्मकपूजोपचारः स्यात्। सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति। सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षूणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति॥ इत्युपनिषत्॥

उस आत्म तत्त्व का सतत चिन्तन ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निराकरण ही आवाहन है। अविचल ज्ञान ही उसका आसन है। उस आत्म तत्त्व के प्रति सदा उन्मुख रहना ही पाद्य है। उस ओर सदैव मनोयोग ही अर्घ्य है। आत्मा की निरन्तर दीप्ति ही आचमन है। श्रेष्ठता की प्राप्ति ही उसका स्नान है। सर्वात्मक दृश्य का विलय (शून्य-लयसमाधि) ही गन्ध है। विशिष्ट नेत्र (अन्तर्नेत्र) ही अक्षत हैं। चित् (चैतन्य) दीप्ति ही पुष्प है। उस (आत्म तत्त्व) का सूर्यात्मकत्व ही दीपक है। पूर्ण चन्द्र और उसके अमृत रूपी रस का एकीकरण ही नैवेद्य है। उसकी सुनियोजित गतिशीलता ही प्रदक्षिणा है। उसका सोऽहम् (मैं वही ब्रह्म हूँ) भाव ही नमन है। मौन (अन्तर्मुखी) रहना ही उसकी स्तुति करना है। सदैव सन्तुष्ट रहना, उसका विसर्जन है। इस प्रकार परिपूर्ण राजयोगी का सर्वात्मक पूजा-उपचार ही उस आत्म तत्त्व का आधार है। समस्त आधि-व्याधियों से रहित मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव रखने से ही मुमुक्षुओं (मोक्ष के अभिलाषियों) की मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा सिद्ध होती है। यही उपनिषद् (तत्त्वज्ञान) है।

॥ इति आत्मपूजोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ आत्मबोधोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसे आत्मप्रबोधोपनिषद् भी कहते हैं। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ॐकार रूप नारायण को नमस्कार करते हुए हृदय को ब्रह्मपुर और स्वप्रकाशित कहा गया है। हृदय में और सर्वत्र 'प्रज्ञारूप'-प्रज्ञानेत्र 'चेतन' का निवास बताया गया है। इस ज्ञान का महत्त्व तथा उसके प्रभाव से नित्य ज्योतित अमरलोक में आवास प्राप्त होने की बात कही गयी है। दूसरे अध्याय में आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर चुके साधक की अनुभूतियों का उल्लेख है। गन्ने के रस में व्याप्त शक्कर और समुद्र की लहरों की उपमा देकर ब्रह्म, जगत् और जीव की स्थितियाँ समझायी गयी हैं। आत्मानुभूति की इस अवस्था में सभी लौकिक सम्बन्धों तथा भेदभावों का अस्तित्व समाप्त हो जाने और जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाने की बात कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्य एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीते नाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मंत्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति ॥१ ॥

स्वयं अपने आप में आनन्द स्वरूप विराट् ब्रह्म पुरुष 'अकार-उकार-मकार' से युक्त यह तीन अक्षरों वाला ॐकार रूप प्रणव का स्वरूप है। इसका जप करने से योगीजन सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले परमात्मा स्वरूप नारायण के लिए नमस्कार है। 'ॐ नमो नारायणाय' नामक इस मन्त्र की उपासना करने वाला मनुष्य वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है॥ १ ॥

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम्॥ २ ॥

जो यह हृदय रूपी कमल है, वही ब्रह्मपुर है। केवल अकेला वही क्षेत्र विद्युत् अथवा दीपक के सदृश प्रकाशमान होता है॥ २ ॥

[आध्यात्मिक दृष्टि से भी हृदय क्षेत्र में दिव्य प्रकाश का बोध होता है तथा शरीर विज्ञान के अनुसार 'पेसमेकर' में भी हृदय को संचालित करने वाले स्पन्दन स्वतः ही उभरते रहते हैं। इन्हीं काय विद्युत् स्पन्दनों का अंकन ई.सी. जी. आदि यन्त्र करते हैं।]

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः॥ ३ ॥

देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों का हित चाहने वाले हैं, (वे) मधुसूदन ब्राह्मणों का सदा हित करने वाले हैं, कमल के सदृश नेत्र वाले भगवान् विष्णु ब्राह्मणों के शुभचिन्तक हैं तथा वे अविनाशी भगवान् अच्युत ब्राह्मणों के प्रिय हैं॥ ३ ॥

सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्॥ ४॥

समस्त भूत-प्राणियों में स्थित रहने वाले एक मात्र भगवान् नारायण ही कारण रूप विराट् पुरुष हैं, वे स्वयं ही कारणरहित हैं, परब्रह्म हैं, वे प्रणवरूप ॐकार स्वरूप हैं॥ ४॥

शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति।
द्वैताद्वैतमभयं भवति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ ५॥

इस प्रकार से भगवान् विष्णु का चिन्तन करने वाला शोक और मोह से मुक्त होकर कभी भी दुःख को नहीं प्राप्त होता। (वह) द्वैत (भेद बुद्धि वाला), अद्वैत (भेद रहित बुद्धिवाला) हो जाता है। मृत्यु से वह भयरहित हो जाता है। जो भी व्यक्ति इस ब्रह्म में भेद देखता है, वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है॥ ५॥

हृत्पद्ममध्ये सर्वं यत्तत्प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥६॥

हृदय कमल के बीच में जो सर्वरूप (चेतन) है, वह प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है। यह लोक प्रज्ञा रूप नेत्र से युक्त है या प्रज्ञा से ही गतिशील है। (सर्वत्र) प्रज्ञा ने प्रतिष्ठा प्राप्त की है, अविनाशी ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है॥ ६॥

[प्रज्ञा को प्रकृष्ट रूप से गहराई से जानने में सक्षम कहा गया है। अन्तःस्थित चेतना प्रज्ञा-सम्पन्न है तथा वह प्रज्ञा-सम्पन्न (ब्रह्म या जगत्) में ही स्थित है। इस लोक में जो भी कुछ चल रहा है, वह प्रज्ञा रूप चेतना के सहारे ही चल रहा है, इसलिए लोक को भी प्रज्ञा नेत्र कहा गया है। यह लोक भी प्रज्ञा प्रवाह में ही स्थित है, इसीलिए संतुलित है। अस्तु, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय सभी रूपों में प्रज्ञा की प्रतिष्ठा है। ऋषि इसे देखते और प्रयुक्त करते हैं। अगले मन्त्र में कहा गया है कि साधक इस प्रज्ञान को जानकर अमरता प्राप्त करते हैं।]

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदमृतः समभवत्॥ ७॥

वह श्रेष्ठ ज्ञानी इस उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न आत्मा के रूप में इस लोक से ऊर्ध्वगमन करके उच्च स्थान पर जाकर स्वर्गलोक में सर्वकामनाओं को प्राप्त करके अमर हो गया ॥ ७॥

यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिंल्लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन्मां देहि स्वमानमृते लोके अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छत्यों नमः॥ ८॥

जहाँ पर नित्य ज्योति स्थिर रहती है, जिस लोक में सभी प्राणियों की आत्मा के रूप में सेवा होती है, ऐसे उस अमर लोक में आप मुझे स्थान प्रदान करें। इस अविनाशी अमरलोक में कुछ काल के लिए भी रहने वाला जीवन्मुक्त होकर और अमृतत्व प्राप्त करके विदेह (मुक्त) होकर कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है, उस ॐकार (स्वरूप आत्मतत्त्व) को नमस्कार है॥ ८॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्रगलितनिजमायोऽहं निस्तुलदृशिरूपवस्तुमात्रोऽहम्।
अस्तमिताहंतोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम्॥ १॥

(आत्म साक्षात्कार करने वाले साधक का कथन-) मेरी स्वयं की माया विशेष रूप से गलित हो गई है। मैं अतुल दर्शन रूप वस्तु मात्र ही हूँ। मेरा अहंकार नष्ट हो चुका है तथा जगत्, ईश्वर एवं जीव जैसे भेद मेरे लिए नष्ट हो गये हैं॥ १॥

प्रत्यगभिन्नपरोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम्।
समुदस्ताश्रमितोऽहं प्रविततसुखपूर्ण-संविदेवाहम्॥ २॥

मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परात्पर ब्रह्म हूँ। मेरे लिए सभी तरह के विधि-निषेध विनष्ट हो चुके हैं। मैं आश्रम धर्म से परे अर्थात् उससे ऊपर उठ गया हूँ तथा मैं असीम सुख से परिपूर्ण एवं ज्ञान स्वरूप हूँ॥ २॥

साक्ष्यनपेक्षोऽहं निजमहिम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम्।
अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम्॥ ३॥

मैं साक्ष्य रूप तथा किसी भी तरह की अपेक्षा से रहित हूँ। मैं अचल होकर अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित हूँ। मैं अजर, अमर हूँ तथा पक्ष-विपक्ष आदि भेद से रहित हूँ॥ ३॥

अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानन्दैकसिन्धुरेवाहम्।
सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलितगुणजालकेवलात्माहम्॥ ४॥

मैं एकमात्र ज्ञानरूप, रस स्वरूप हूँ। मोक्ष के आनन्द का एकमात्र सागर हूँ। मैं सूक्ष्म हूँ। मैं अक्षर हूँ। मैं विनष्ट गुण समूह वाला (त्रिगुणातीत) हूँ। मैं तो केवल आत्मा ही हूँ॥ ४॥

निस्त्रैगुण्यपदोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम्।
कूटस्थचेतनोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम्॥ ५॥

मैं त्रिगुणातीत अक्षय परम पद हूँ। मेरे उदर (कुक्षि) में अनेकों लोक विद्यमान हैं। मैं कूटस्थ चैतन्य स्वरूप हूँ, क्रियारहित धाम (आश्रय स्थल) हूँ तथा मैं वितर्क्य रहित हूँ॥ ५॥

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्तिरेवाहम्।
निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम्॥ ६॥

मैं एक हूँ, मैं अविकल अर्थात् परिपूर्ण हूँ, मैं निर्मल एवं निर्वाण मूर्ति हूँ। मैं अवयवों से रहित तथा मैं ही अजन्मा हूँ। केवल सत्स्वरूप में सब का सारभूत मैं ही हूँ॥ ६॥

निरवधिनिजबोधोऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम्।
विभुरहमनवद्योऽहं निरवधिनिःसीमतत्त्वमात्रोऽहम्॥ ७॥

मैं अवधिरहित निज बोध रूप हूँ, मैं श्रेष्ठतर भावों से युक्त तथा भेदरहित हूँ। मैं अति विराट् तथा निर्दोष हूँ, अवधि एवं सीमा से रहित केवल आत्म स्वरूप हूँ॥ ७॥

वेद्योऽहमागमान्तैराराध्यः सकलभुवनहृद्योऽहम्। परमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहम्॥८

मैं वेदान्त के द्वारा जाना जाता हूँ, आराधना के योग्य हूँ, सभी भुवनों में अनुपम सुन्दर हूँ, मैं परमानन्दघन स्वरूप हूँ तथा मैं ही परमानन्द रूप एकमात्र भूमा स्वरूप हूँ॥ ८॥

शुद्धोऽहमद्वयोऽहं संततभावोऽहमादिशून्योऽहम्।
शमितान्तत्रितयोऽहं बद्धो मुक्तोऽहमद्भुतात्माहम्॥ ९॥

मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूँ, सतत भाव रूप हूँ। आदि रहित हूँ। मैं (जीव, प्रकृति एवं ब्रह्म के) त्रित से रहित हूँ। मैं बद्ध, मुक्त और अद्भुत स्वरूप वाला आत्मतत्त्व हूँ॥ ९॥

शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माहम्।
शोधितपरतत्त्वोऽहं बोधानन्दैकमूर्तिरेवाहम्॥ १०॥

मैं पवित्र हूँ, अन्तरात्मा हूँ तथा मैं ही सनातन विज्ञान का पूर्ण रस 'आत्मतत्त्व' हूँ। शोध (अनुसन्धान) किया जाने वाला परात्पर आत्मतत्त्व हूँ और मैं ही ज्ञान एवं आनन्द की एकमात्र मूर्ति हूँ॥ १०॥

विवेकयुक्तिबुद्ध्याहं जानाम्यात्मानमद्वयम्। तथापि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते॥ ११॥

मैं विवेक-बुद्धि से युक्त हूँ। मैं आत्मा को अद्वैत रूप में जानता हूँ, तब भी (शरीर रहते) बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहार वाला हूँ॥ ११॥

निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्॥ १२॥
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि। यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा॥ १३॥
अद्वयब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्त्रयम्। ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः॥ १४॥
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा। तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा॥ १५॥
विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः। दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम॥ १६॥
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्। विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्॥ १७॥
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम्। घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति॥ १८॥
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति। न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः॥ १९॥

मेरी दृष्टि से प्रपञ्च निवृत्त (दूर) हो गया है, तब भी सर्वदा वह सत्य के सदृश प्रतिभासित होता है। निश्चय ही सर्प आदि में जिस प्रकार रस्सी का अस्तित्व है, उसी प्रकार ही प्रपञ्च का भी अस्तित्व है। केवल मात्र ब्रह्म सत्ता के आधार पर ही प्रपञ्च का व्यवहार है, यह जगत् तो है ही नहीं। जिस तरह शक्कर गन्ने के रस में व्याप्त है, उसी तरह ही अद्वैत ब्रह्म आनन्द रूप में तीनों लोकों में विद्यमान है। जिस प्रकार सागर में बुलबुले से लेकर तरंगें तक कल्पित हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त प्राणिमात्र कल्पित हैं। जिस तरह समुद्र की तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करते, उसी तरह केवल आनन्द स्वरूप होने में मुझे विषयों के आनन्द की कोई भी इच्छा नहीं रहती। जिस तरह सम्पत्ति से सम्पन्न व्यक्ति को दरिद्रता की कोई संभावना नहीं रहती, उसी तरह ही ब्रह्म के आनन्द में निमग्न रहने वाले मुझको विषयों की कोई आशा नहीं रहती। बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार विष और अमृत को देख करके विष का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मैं आत्मा को देख करके अनात्मा का परित्याग कर देता हूँ। जैसे घट (घड़े) को प्रकाश देने वाला सूर्य घड़े के नष्ट होने से स्वयं नष्ट नहीं हो जाता, वैसे ही शरीर को प्रकाश देने वाला साक्षी-परमात्मा, शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। न मेरे लिए कोई बन्धन है और न ही मुक्ति, न मेरे लिए कोई शास्त्र है और न ही मेरा कोई गुरु॥ १२-१९॥

मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः। प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः॥२०॥
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत्। आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम्॥२१॥

ये सब तो माया के विकास मात्र हैं तथा मैं (आत्मा) माया से परे स्वयं अद्वैत रूप हूँ। प्राण भले ही निकल जायें और मन चाहे अपने धर्मों एवं कामनाओं से विनाश को प्राप्त हो जाये; परन्तु आनन्द एवं बुद्धि की पूर्णता के कारण मुझे कैसे दुःख प्राप्त हो सकता है? मैं आत्मा को तो अनायास-सहज ही जानता हूँ, मेरा अज्ञान न मालूम कहाँ पलायन कर गया है॥ २०-२१॥

कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित्। ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः॥ २२॥
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि। क्षुत्पिपासान्ध्यबाधिर्यकाम-क्रोधादयोऽखिलाः॥२३॥
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि। जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः॥२४॥

अब मेरा कर्तृत्व-भाव बिल्कुल नष्ट हो गया है तथा मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है। ब्राह्मण कुल- गोत्र, नाम की सुन्दरता एवं जाति का अस्तित्व तो मात्र स्थूल शरीर में ही होता है, मैं तो स्थूल पदार्थों से बिल्कुल पृथक् हूँ। क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), अन्धापन, बहरापन, काम-क्रोध आदि सभी तरह के धर्म-लिङ्ग (चिह्न) आदि शरीर में स्थित रहते हैं, मैं तो इस लिंग शरीर से रहित हूँ। मुझमें इनमें से कोई भी विकार नहीं है। जड़ता, प्रियता और आनन्द मनाना आदि कारण शरीर के धर्म हैं॥ २२-२४॥

न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः। उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते॥ २५॥
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते। चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते॥ २६॥
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते। यथामृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते॥ २७॥

मैं तो नित्य और निर्विकार स्वरूप से युक्त हूँ, अतः ये (उपर्युक्त) सभी मेरे धर्म नहीं हैं। जैसे उलूक (उल्लू) को सूर्य अन्धकार युक्त दिखाई देता है, वैसे ही मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्य को स्वयं प्रकाश स्वरूप परमानन्द में अज्ञान दृष्टिगोचर होता है। जैसे बादलों के कारण चारों ओर से दृष्टि के रुक जाने से लोग समझने लगते हैं कि सूर्य नहीं है, वैसे ही मूढ़ता से आवृत प्राणी यह मान लेता है कि ब्रह्म है ही नहीं। जिस प्रकार से अमृत विष से अलग है, इस कारण विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता, उसी प्रकार मैं (आत्मा) जड़ से भिन्न हूँ। अतः जड़ के दोषों का मुझमें स्पर्श नहीं होता॥ २५-२७॥

न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषान् प्रकाशतः। स्वल्पापि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः॥२८॥
स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तथा। कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि॥ २९
अहंकारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः। चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥ ३०॥

जैसे दीपकणिका अर्थात् दीपक की छोटी सी ज्योति भी बहुत बड़े अन्धकार को विनष्ट कर देती है, वैसे ही थोड़े से ज्ञान का प्रकाश भी घने अन्धकार रूपी अज्ञान को विनष्ट कर देता है। जैसे रस्सी में तीनों कालों में कभी भी सर्प नहीं है, वैसे ही अहंकार से लेकर शरीर तक का संसार मेरे अन्दर तीनों काल में नहीं है, मैं तो केवल अद्वैत रूप में ही हूँ। मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, इसलिए मुझ में जड़ता नहीं है। मैं सत्य स्वरूप हूँ, इस कारण मुझ में झूठ नहीं है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ ॥ २८-३०॥

आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत्। आत्मप्रबोधोपनिषन्मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते। न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत्॥ ३१॥

आनन्द स्वरूप होने के कारण मुझ में दुःख नहीं हैं। ये सभी (जगत्प्रपंच) तो केवल अज्ञान से ही प्रतिभासित होते हैं। इस आत्मप्रबोध उपनिषद् का जो व्यक्ति कुछ क्षण भी उपासना (साक्षात्कार प्राप्त) कर लेता है, वह पुनः इस संसार में नहीं आता है, ऐसी यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ ३१॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः॥

॥ इत्यात्मबोधोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ आत्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। नाम के अनुसार इस उपनिषद् में आत्म तत्त्व की विभिन्न स्थितियों-आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा को स्पष्ट किया गया है। शरीर एवं इन्द्रियादि में सक्रिय चेतन को आत्मा, प्रकृति के विभिन्न घटकों, पंचतत्त्वों आदि में संव्याप्त को अन्तरात्मा तथा इन सब घटकों से परे चेतन प्रवाह को परमात्मा-ब्रह्म कहा गया है। सूर्य जैसे राहुग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, यह कहकर ऋषि ने सूर्यग्रहण के तथ्य के साथ ही जीवन के तथ्य को भी उजागर किया है। रस्सी में सर्पबोध तथा सर्प का केंचुली से मुक्त होने के उदाहरणों से संसार रूपी भ्रमों और आत्मा की सहज मुक्तावस्था को समझाया गया है। ब्रह्म को सभी उपमाओं, सम्बोधनों और शब्दार्थों से परे सिद्ध किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ॥ १-क ॥

अङ्गिरा (अंग, अंगी, अंग-ज्ञ आदि दृष्टि से) पुरुष (परमात्मा) त्रिविध 'आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा' रूप में प्रादुर्भूत (प्रकट) हुआ ॥ १-क॥

त्वक् चर्ममांसरोमाङ्गुष्ठाङ्गुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुकपोलश्रोत्र भ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोधमनिकाऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष बाह्यात्मा ॥ १-ख ॥

(अब क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप वर्णित कर रहे हैं-) जो त्वक् (त्वचा), चर्म, मांस, रोम (बाल), अँगूठा, अँगुलियों , पीठ (पृष्ठभाग), नख, गुल्फ (टखनों), उदर (पेट), नाभि, जननेन्द्रिय, कटि (कमर), जंघा, कपोल,भौंह, मस्तक, भुजाओं, पार्श्वभाग, सिर एवं आँखों आदि (स्थूल शरीर) के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र में घूमता है, वह आत्मा है ॥ १-ख ॥

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशेच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोह विकल्पनादिभिः स्मृतिलिङ्ग उदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घप्लुतस्खलितगर्जितस्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्रप्रलय विजृम्भितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः पुराणन्याय - मीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणकर्मविशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥ १-ग ॥

अन्तरात्मा (दृश्य पदार्थों में अव्यक्त रूप से स्थित अन्तर्यामी चेतन) वह है, जो पृथ्वी, जल, सुख-दुःख आदि (गुण), काम, मोह, तर्क-वितर्क आदि, स्मृति, लिंग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि (स्वर भेद), स्खलित, गर्जित (मेघ शब्द), स्फुटित, मुदित, नृत्य, गीत, वादित (आदि ध्वनि रूप), प्रलय, विजृम्भण (विकास) आदि के द्वारा श्रवण करने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कार्य करने वाला, विज्ञानात्मा, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि जो धर्मशास्त्रों का ज्ञाता, श्रवण, घ्राण (सूँघना), आकर्षण एवं कार्य विशेष को पूर्ण करता है ॥ १-ग ॥

अथ परमात्मा नाम यथाक्षर उपासनीयः। स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिका वा श्यामाकतण्डुलो वा वालाग्रशतसहस्रविकल्पनाभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यति न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षीभूतः। शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्यो निर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि। निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति॥ १-घ॥

परमात्मा नाम से सम्बोधित अक्षर (अविनाशी या ॐकार रूप में) आराध्य है। वह (परमात्मा) प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमान, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा; वट कणिका (वट वृक्ष के सूक्ष्म बीज), श्यामाक-तण्डुल (सावाँ के सूक्ष्म चावल) तथा अत्यन्त सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सैकड़ों-हजारों हिस्सों से भी अति सूक्ष्म; इस प्रकार से चिन्तन किया जाता हुआ प्राप्त भी होता है और नहीं भी होता है। वह न कभी प्रकट होता है और न ही मरता है, न शुष्क होता है, न आर्द्र होता है, न चलायमान है, न कम्पन करता है, न टूटता है, न स्थिर रहता है, वह तो गुणों से रहित, सर्व प्रमाण भूत, शुद्ध स्वरूप, अवयवरहित आत्मा केवल, सूक्ष्म, निर्मल, निरंजन, विकारहीन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धहीन, ज्ञान से रहित, कल्पना रहित, आकांक्षा से रहित, सर्वत्र व्याप्त, अचिन्त्य एवं इस प्रकार का परमात्मा है कि जिसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं किया जा सकता। (वह) अशुद्ध-अपवित्र को शुद्ध-पवित्र करता है, वह क्रियारहित है, उस परमात्मा का कोई संसार नहीं है अर्थात् संसार रहित है॥ १-घ॥

[संसार का अर्थ (संसरति इति संसारः) गतिशील या परिवर्तनशील होता है। परमात्मा एक रूप रहने वाला होने से उसका कोई संसरण नहीं होता; इस भाव से उसे संसार रहित कहा गया है। अगले मन्त्रों में उस आत्म तत्त्व का स्वरूप दृष्टिगत होने पर सब जगह उस परमात्मतत्त्व-ब्रह्म के ही भासित होने की बात कही गई है।]

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा। ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते॥ १-ङ॥

'आत्मा' नामक वह परमपवित्र, कल्याणकारी, एकमात्र, अद्वैत, ब्रह्मरूप होने के कारण केवल ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है॥ १-ङ॥

जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते। विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाऽभावादिभेदतः॥ २॥

इस जगत् के रूप में ब्रह्म ही परिलक्षित होता है। विद्या-अविद्या, भाव-अभाव आदि के भेद से जो भी दृष्टिगोचर होता है, वह अविनाशी ब्रह्म का ही रूप है॥ २॥

गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने॥ ३॥

गुरु एवं शिष्य आदि के भेद से ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में यदि देखा जाए, तो यत्र-तत्र-सर्वत्र वह शुद्ध प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही है॥ ३॥

न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्। सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम्॥ ४॥

वस्तुतः न तो विद्या है और न ही अविद्या है, न जगत् है और न ही अन्य कोई वस्तु सत्य है; लेकिन सत्यरूप में जगत् का भान होना ही इस (संसार) का प्रवर्तक (इस प्रकृति का मूल कारण) है॥ ४॥

असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम्। घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्षते॥ ५॥

यह (संसार) असत्य है, यह भान होना ही इसका निवर्तक (मुक्तिदाता) है, जैसे सामने रखे हुए घट (घड़े) के ज्ञान के लिए कोई भी अन्य नियम (प्रमाण) अपेक्षित नहीं है (वह तो प्रत्यक्ष ही है)॥ ५॥

विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः। अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते॥ ६॥

जिस प्रकार से प्रत्येक सामने स्थित पदार्थ का ज्ञान बिना ही प्रमाण के हो जाता है, ठीक उसी प्रकार नित्य-सिद्ध यह आत्मा प्रमाणित (प्रत्यक्ष) होकर ही प्रतिभासित (प्रकाशित) होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्ममय रूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रहती है॥ ६॥

न देशं नापि कालं वा न शुद्धिं वाप्यपेक्षते। देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम्॥ ७॥

जिस प्रकार देवदत्त आदि नाम के प्रति विज्ञानी (पुरुष) निरपेक्ष (पूर्ण आश्वस्त)हो जाता है, उसी प्रकार वह (आत्मतत्त्व) देश, काल अथवा किसी भी तरह की पवित्रता की अपेक्षा नहीं रखता॥ ७॥

तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम्। भानुनेव जगत्सर्वं भास्यते यस्य तेजसा॥ ८॥

उसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले का ब्रह्माहम् (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा समझना ही ब्रह्म का साक्षात्कार (प्रत्यक्षानुभूति) है। जिस तरह सूर्य से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उसी तरह ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म के तेज से प्रकाशित होता है॥ ८॥

अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम्। वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि। येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत्॥ ९॥

उस ब्रह्म के प्रत्यक्ष सिद्धत्व में अन्य कोई साक्ष्य देना अनात्मक, असत् एवं तुच्छ है, उसका अवभासक (बोध कराने वाला) कौन है? (अर्थात् कोई नहीं।) वेद, शास्त्र, पुराण एवं समस्त भूत (प्राणि - जगत्) जिसके माध्यम से अर्थवान् हैं, वह (ब्रह्म) तो स्वयं प्रकाशित है॥ ९॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि॥ १०॥ तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी। कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकचरो मुनिः॥ ११॥

जिस प्रकार बालक भूख अथवा शरीर की किसी भी तरह की पीड़ा-परेशानी को त्याग कर (अर्थात् भूलकर) आकर्षक वस्तुओं (खिलौनों) के साथ क्रीड़ा करता रहता है, उसी प्रकार ही विद्वज्जन ममता-रहित, अहंकाररहित, सुखी रहते हुए ब्रह्म में ही रमण किया करता है। वह (आत्मज्ञानी) सभी तरह की इच्छाओं से मुक्त होकर मुनिरूप में एकान्तवासी होकर विचरण करता रहता है॥ १०-११॥

स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः। निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः॥ १२

स्वयं अपनी ही आत्मा से सदा सन्तुष्ट तथा अपने को सर्वत्र स्थित मानता हुआ (लौकिक दृष्टि से) निर्धन भी सदैव सन्तुष्ट एवं असहाय भी अपने को महाबलवान् समझता है॥ १२॥

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः। कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि॥ १३॥

वह किसी भी तरह का भोजन न ग्रहण करता हुआ भी नित्य तृप्त रहता है, देखने में असमान व्यवहार करता हुआ भी सबको बराबर देखने वाला, कार्य करता हुआ भी काम न करता हुआ-सा तथा फल का उपभोग करता हुआ भी भोगरहित माना जाता है॥ १३॥

मन्त्र क्र० १५-१६ में ऋषि यह बात स्पष्ट करते हैं कि सूर्य (ग्रहण या बादलों के कारण) अन्धकार ग्रस्त दिखता भर है; किन्तु वास्तव में वह ग्रसित होता नहीं है। जन सामान्य को समझने के लिए कहे गये बाल सुलभ उदाहरणों के आधार पर किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि शास्त्र विज्ञान सम्मत नहीं हैं-

शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः। अशरीरं सदा सन्तमिदं ब्रह्मविदं क्वचित्॥ १४॥ प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे। तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः॥ १५॥

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम्। तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम्॥ १६॥
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात्। अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ॥ १७॥

वह आत्मा शरीर में रहते हुए भी अशरीरी है, वह परिच्छिन्न (शरीर में आबद्ध) रहता हुआ भी सर्वत्र गमनशील अर्थात् व्याप्त है। इसलिए शरीररहित उस ब्रह्मज्ञानी को कहीं पर भी प्रिय तथा अप्रिय ज्ञान स्पर्श नहीं करता (अर्थात् वह आत्मा किसी को प्रिय या अप्रिय नहीं समझता), शुभ एवं अशुभ उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। जिस प्रकार लोगों के द्वारा सूर्य राहु से ग्रसित न होने पर भी ग्रसित मान लिया जाता है, लोग भ्रान्तिवश उसे ग्रसित मानते हैं; क्योंकि उन्हें वस्तु-स्थिति का पता नहीं होता। उसी प्रकार शरीरादि के बन्धनों से मुक्त श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को शरीरी के रूप में मानने वाले मूढ़ (वज्रमूर्ख) समझे जाते हैं; वास्तव में वह ब्रह्मज्ञानी (आत्मा) साँप की केंचुली के सदृश शरीर से सर्वथा मुक्त रहता है॥ १४-१७॥

इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किंचित्प्राणवायुना। स्त्रोतसा नीयते दारु यथानिम्नोन्नतस्थलम्॥ १८॥

यह शरीर प्राण वायु के द्वारा ही इधर-उधर संचालित किया जाता है, जैसे झरने-नदी आदि के स्त्रोतों द्वारा लकड़ियों को ऊपर-नीचे ले जाया जाता है॥ १८॥

दैवेन नीयते देहो तथा कालोपभुक्तिषु। लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केव-लात्मना॥१९॥
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः। जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः॥ २०॥

जैसे दैव (भाग्य) के द्वारा देह कालोपभोग (सुख-दुःख आदि उपभोगों) में ले जाई जाती है, ऐसे जो केवल अपनी आत्मा के सहारे लक्ष्य-अलक्ष्य की गति को त्यागकर स्थिर हो जाता है, वह (आत्मानुभूतियुक्त साधक) ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ साक्षात् भगवान् शिव ही है। शिवस्वरूप वह कृतार्थ ब्रह्मज्ञानी जीवित रहते हुए भी मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ १९-२०॥

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्। शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्॥ २१॥

यह (आत्मा), उपाधि (शरीरादि) के विनष्ट हो जाने पर ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है, जिस तरह विविध वेश को धारण करने पर व्यक्ति नट आदि के रूप में समझा जाता है तथा अपने वास्तविक रूप में आ जाने पर वही (पूर्व जैसा) व्यक्ति समझा जाता है॥ २१॥

तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः। घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्॥ २२॥

उसी तरह ही ब्रह्म को जानने वाला भी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। केवल शरीरादि (वेश) के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न अन्य और कुछ भी नहीं है। जैसे घट के फूट जाने पर घट के अन्दर का आकाश-आकाश रूप ही हो जाता है॥ २२॥

तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्। क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले॥ २३॥
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः। एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम्॥२४॥
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः। सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ॥ २५॥

वैसे ही उपाधि अर्थात् शरीरादि के विलय हो जाने के पश्चात् ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म रूप ही हो जाता है। जिस तरह दुग्ध में दुग्ध, तेल में तेल और जल में जल मिला देने पर एक हो जाते हैं; ठीक उसी तरह आत्मज्ञानी मुनि एवं आत्मा की स्थिति भी एक ही है। इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य-पद की प्राप्ति के पश्चात् सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव की प्राप्ति करके पुनः संसारावर्तन (आवागमन)से मुक्त हो जाता है; क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी अविद्या दग्ध हो जाती है॥ २३-२५॥

अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः। मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥२६

ऐसे यति के ब्रह्मरूप हो जाने पर यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म का पुनः उद्भव हो। माया के द्वारा रचित बन्धन और मोक्ष वस्तुतः उस ब्रह्म में नहीं हुआ करते ॥२६ ॥

यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ। आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥२७॥

जिस प्रकार निष्क्रिय रस्सी में सर्प का बोध हो जाने पर यदि वह (सर्पाभास) पुनः समाप्त हो जाता है, तो फिर केवल-मात्र रस्सी ही आभासित होने लगती है। उसी प्रकार आवरण के सत् और असत् भाव को ही बन्धन और मोक्ष कहना चाहिए॥ २७॥

नावृतिर्ब्रह्मणःकाचिदन्याभावादनावृतम्। अस्तीति-प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ॥ २८ ॥
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः। अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ॥२९ ॥

ब्रह्म का कोई भी आवरक नहीं होता। वह अन्य के अभाव के कारण अनावृत है। वस्तु के होने या न होने के विषय में जो कुछ भी विश्वास किया जाता है,ये तो वस्तुतः बुद्धि के ही गुण हैं,उस नित्य वस्तु (अविनाशी ब्रह्म) के नहीं। अतः माया के द्वारा प्रादुर्भूत होने वाले बन्धन और मोक्ष आत्मा में नहीं होते॥ २८-२९॥

[ऋषि यहाँ यह तथ्य बहुत स्पष्ट कर देते हैं कि बन्धन या मुक्ति आत्मा के लिए नहीं, बुद्धि के लिए है। मेरे-तेरे में बुद्धि ही उलझती-सुलझती है, आत्मा तो सहज मुक्तावस्था में ही स्थित है।]

निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने। अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥ ३० ॥

उस कलारहित, निष्क्रिय, शान्त, निष्पाप, निरञ्जन, अद्वितीय परमात्म तत्त्व में आकाश के भेदों की भाँति (घटाकाश, महाकाश आदि) कल्पना कहाँ से हो सकती है?॥ ३०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३१ ॥

सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो जन्म लेता है और न ही जन्मरहित है,न वह बन्धन में रहता है, न ही साधक है, न ही वह मोक्ष की इच्छा वाला है और न ही वह मुक्त है (वह इन सबसे परे है।)॥ ३१॥

[जन्म लेने वाली काया के साथ वह प्रकट होता दीखता है, इसलिए वह जन्म रहित नहीं है, लेकिन जन्म तो काया का होता है, चेतना का नहीं, पात्र बनते-टूटते हैं, उनमें रहने वाला जल तो पात्र के जन्म और क्षय से मुक्त है, इसलिए अजन्मा है। इसी भाव से उसे न मुक्त कह सकते हैं, न अमुक्त, न मोक्षाकांक्षी।]

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥

॥ इत्यात्मोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ आरुण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय मानी जाती है। इसे आरुणिकोपनिषद् के नाम से भी जाना जाता है। इसमें ऋषि आरुणि की वैराग्य जिज्ञासा के उत्तर में ब्रह्मा जी ने संन्यास में दीक्षित होने के सूत्र समझाये हैं। संन्यास में प्रवेश के लिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तीनों को ही अधिकृत किया गया है। संन्यासी के यज्ञ-यज्ञोपवीत आदि कर्मकाण्ड के प्रतीकों के त्याग का बड़ा मार्मिक स्वरूप समझाया गया है। संन्यासी यज्ञ का त्याग नहीं करता, स्वयं यज्ञरूप बन जाता है, वह ब्रह्मसूत्र त्यागता नहीं, उसका जीवन ही ब्रह्मसूत्र हो जाता है। वह मंत्र त्यागता नहीं, उसकी वाणी ही मंत्र रूप हो जाती है। इन सब महत्त्वपूर्ण सूत्रों को अंतरंग जीवन में ही धारण करने के कारण उसे संन्यासी अर्थात् सम्यक् रूप से धारण करने वाला कहा गया है। संन्यास ग्रहण करने के स्थूल कर्मकाण्ड का भी उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिःशान्तिः शान्तिः ॥

मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, प्राण, नेत्र, कान, बल एवं सभी इन्द्रियाँ विकसित हों। समस्त उपनिषदें 'ब्रह्म' हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो तथा ब्रह्म हमारा परित्याग न करे, मेरा परित्याग न हो-न हो। इस प्रकार ब्रह्म में निरत (लगे हुए) हमें उपनिषद्-प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। हमारे त्रिविध तापों का शमन हो तथा हमें शान्ति प्राप्त हो।

ॐ आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिस्तव पुत्रान्भ्रातॄन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं चातलतला-तलवितलसुतलरसातलमहातलपातालं ब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं चैव कौपीनं च परिग्रहेत्। शेषं विसृजेदिति ॥ १ ॥

प्रजापति की उपासना करने वाले अरुण के पुत्र आरुणि ब्रह्मलोक में भगवान् ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए तथा प्रार्थना करते हुए पूछा-हे भगवन्! मैं सभी कर्मों का किस तरह से परित्याग कर सकता हूँ। तब ब्रह्माजी ने उनसे कहा-हे ऋषे! अपने पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव आदि को यज्ञोपवीत, यज्ञ, शिखा और स्वाध्याय को तथा भू लोक, भुवः लोक, स्वः लोक, महः लोक, जनःलोक, तपःलोक, सत्यलोक और अतल, तलातल, वितल, सुतल, रसातल, महातल तथा पाताल आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परित्याग कर देना चाहिए। मात्र दण्ड, आच्छादन के लिए वस्त्र एवं कौपीन (लँगोटी) को धारण करना चाहिए। शेष अन्य सभी वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए॥ १ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थो वा उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेदिति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्म - न्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति॥ २॥

ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो या वानप्रस्थी सभी को (अपने-अपने आश्रमों में विहित) दिव्य अग्नियों को अपने जठराग्नि में आरोपित कर लेना चाहिए। गायत्री को अपनी वाणी रूपी अग्नि में प्रतिष्ठित करे। यज्ञोपवीत को पृथ्वी पर अथवा जल में विसर्जित कर देना चाहिए। कुटी में निवास करने वाले ब्रह्मचारी को अपने परिवार (कुटुम्ब) का परित्याग कर देना चाहिए, पात्र का त्याग करे एवं पवित्री (कुशा) को भी त्याग दे। दण्ड और लौकिक अग्नि का भी त्याग करे, ऐसा ब्रह्माजी ने आरुणि से कहा। आगे उन्होंने कहा कि वह मंत्रहीन की तरह आचरण करे। ऊर्ध्व (स्वर्गादि) लोकों में जाने की इच्छा भी न करे। औषधि की भाँति अन्न ग्रहण करे तथा त्रिकाल संध्या-स्नान करे। संध्या काल में समाधिस्थ होकर परब्रह्म परमात्मा का अनुसंधान करे, सभी वेदों में आरण्यकों की आवृत्ति करे अर्थात् पढ़े और मनन करे तथा उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करें॥ २॥

खल्वहं ब्रह्मसूत्रं सूचनात्सूत्रं ब्रह्मसूत्रमहमेव विद्वांस्त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वाऽभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सखा मा गोपायोजःसखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति। अनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेदौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्। ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो३ हे रक्षतो३ हे रक्षत इति॥ ३॥

निश्चय ही ब्रह्म का बोध कराने वाला सूत्र ब्रह्मसूत्र मैं स्वयं ही हूँ, ऐसा जानकर त्रिवृत्सूत्र (उपवीत) का भी परित्याग कर दे। ऐसा जानने वाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्' अर्थात् मैंने संन्यास ले लिया, मैंने सर्वस्व का त्याग कर दिया, सब कुछ छोड़ दिया, ऐसा तीन बार कहे। इसके पश्चात् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (अर्थात् सभी हिंस्र और अहिंस्र प्राणियों को अभय प्राप्त हो, सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही विद्यमान है।) इत्यादि मन्त्र से-हे दण्ड! आप मेरे मित्र हैं, आप मेरे ओज की रक्षा करें। आप मेरे मित्र तथा आप ही वृत्रासुर का विनाश करने वाले देवराज इन्द्र के वज्र हैं। हे वज्र ! आप हमें सुख प्राप्त करायें तथा हमें संन्यास धर्म से पथभ्रष्ट करने वाला जो भी पाप हो, उसका निवारण करें; यह कहते हुए अभिमंत्रित बाँस का दण्ड और कौपीन (लँगोटी) धारण करे। औषधि की तरह से भोजन ग्रहण करे, जो कुछ भी मिल जाए, उसे अल्पमात्रा में औषधि समझ कर खाए। हे आरुणि! संन्यास धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। हे वत्स! उन (संन्यास के सभी अनुशासनों) की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो॥ ३॥

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनादिकं भूमौ ब्रह्मचारिणां मृत्पात्रं वाऽलाबुपात्रं दारुपात्रं वा। कामक्रोधहर्षरोषलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहंकारादीनपि परित्यजेत्। वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद् द्वावे वा चरेद् द्वावे वा चरेदिति॥ ४॥

तदनन्तर (ब्रह्माजी ने पुनः कहा) ब्रह्मभाव को प्राप्त परमहंस परिव्राजकों के लिए पृथ्वी पर ही आसन और शयन आदि का नियम है। मिट्टी के पात्र को या फिर तूँबी अथवा काष्ठ के कमण्डलु को अपने पास रखे। संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, शोक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, इच्छा, परनिन्दा एवं ममता और अहंकार आदि का भी परित्याग पूर्ण रूप से कर देना चाहिए। उन्हें वर्षा ऋतु के चार माह तक एक ही स्थान पर स्थिर होकर रहना चाहिए, इसके अतिरिक्त शेष आठ माह एकाकी भ्रमण करे अथवा कम से कम दो माह तक एक ही स्थान में रहे॥ ४॥

स खल्वेवं यो विद्वान्सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत्। पितरं पुत्रमग्निमुपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह। यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रमुदरपात्रं वा। ॐ हि ॐ हि ॐ हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। खल्वेतदुपनिषदं विद्वान्य एवं वेद पालाशं बैल्वमाश्वत्थमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमिति। एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम्। इत्युपनिषद्॥ ५॥

इसके समस्त नियम-उपनियम की पूर्ण जानकारी रखने वाला विद्वान् यदि संन्यास धर्म को ग्रहण करना चाहे, तो उसे उपनयन के पश्चात् अथवा पूर्व में भी अपने माता-पिता, पुत्र, अग्नि, उपवीत, कर्म, पत्नी अथवा अन्य और जो भी कुछ हो उन समस्त वस्तुओं-पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। संन्यास धर्म ग्रहण करने वाले को चाहिए कि वह अपने हाथों को ही पात्र बना ले या फिर अपने उदर (पेट) को ही पात्र रूप में उपयोग कर भिक्षार्थ गाँव में गमन करे। ॐ हि इस उपनिषद् मन्त्र का तीन बार उच्चारण करते हुए (भिक्षार्थ गाँव में) प्रवेश करे। यह उपनिषद् है। जो (विद्वान्) इस उपनिषद् को पूर्णरूप से जानता है, वही विद्वान् है। पलाश (छिउल), बेल, पीपल या गूलर आदि में से किसी का दण्ड, मूँज की मेखला धारण कर एवं यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर जो इस (उपनिषद्) को भली प्रकार जान लेता है, वही श्रेष्ठ है, वही शूरवीर हैं। जो (परमात्मा) आकाश में प्रकाश युक्त सूर्य मण्डल की तरह परम व्योम में चिन्मय तेज के द्वारा सभी ओर संव्याप्त है, ऐसे भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक सदैव दर्शन करते हैं। साधना में सतत लगे रहने वाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँच कर उस परमधाम को और भी प्रदीप्त किए रहते हैं, ऐसे उस पद को विष्णु का परमधाम कहते हैं। इस प्रकार यह निर्वाण (मुक्ति प्राप्ति) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है, यही उपनिषद् है।॥ ५॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ..... इति शान्तिः॥

॥ इति आरुण्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ आश्रमोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें आश्रम व्यवस्था-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों आश्रमों के विभिन्न पक्षों एवं उनके अनुशासनों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चार कण्डिकाएँ चारों आश्रमों से सम्बन्धित हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथातश्चत्वार आश्रमाः षोडशभेदा भवन्ति। तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मणः प्रजापत्यो बृहन्निति। य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमन्त्रे स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्प्रतिवेदं द्वादश वा यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः। स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशति-वर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आ प्रायणाद्गुरो-रपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति॥ १ ॥

चार आश्रम होते हैं, जिनके सोलह प्रकार होते हैं। ब्रह्मचारी चार प्रकार के होते हैं-गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य और बृहन्। जो उपनयन संस्कार के पश्चात् तीन रात्रि तक लवणरहित भोजन ग्रहण कर गायत्री जप करता है, उसे गायत्र कहते हैं। जो अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वेदाध्ययन करता है तथा प्रत्येक बारह वर्ष का समय नियोजित करता है अथवा जब तक वेद का सम्यक् ज्ञान न हो जाए, तब तक वह ब्रह्मचर्य धारण करता है अर्थात् ब्रह्म (ज्ञान) प्राप्ति हेतु नियमों का पालन करता है, उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। अपनी स्त्री (धर्म पत्नी) से ऋतुकाल में ही समागम करने वाला तथा पर-स्त्री के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध न रखने वाला 'प्राजापत्य' होता है अथवा जो चौबीस वर्ष तक गुरुकुल में वास करे, वह ब्राह्मण और जो अड़तालीस वर्ष तक वास करे, वह प्राजापत्य कहलाता है। जो नैष्ठिक (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, वह बृहन् कहलाता है॥ १ ॥

गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्त्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्या - सिकाश्चेति। तत्र वार्त्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्ति - मुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते॥ २ ॥

गृहस्थ भी चार प्रकार के होते हैं-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे हैं; जो कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) व व्यापार आदि अनिन्दित कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्ण आयु)

तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। शालीनवृत्ति गृहस्थ वे होते हैं, जो स्वयं यज्ञ करते हैं; किन्तु अन्यों को कराते नहीं है। स्वयं अध्ययन करते हैं; किन्तु औरों को पढ़ाते नहीं हैं। दान देते तो हैं; किन्तु दूसरों से स्वयं नहीं लेते। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। यायावर गृहस्थ वे होते हैं, जो यज्ञ करते हैं और दूसरों को भी कराते हैं। स्वयं अध्ययन करते हैं तथा दूसरों को भी कराते हैं। दान देते हैं तथा लेते भी हैं। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं। घोर संन्यासिक गृहस्थ वे हैं, जो पवित्र जल स्वयं लाकर कार्य करते हुए उञ्छवृत्ति (खेत से फसल उठाने के बाद गिरे हुए अन्न को बीन कर जीविका चलाना) अपना कर जीवन निर्वाह करते हुए तपश्चर्या में निरत रहकर सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ २॥

वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति। तत्र वैखानसा अकृष्टपच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञ क्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते तदाहृतोदुम्बरबदरनीवारश्यामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बालखिल्या जटाधराश्चीरचर्मवल्कलपरिवृताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र यत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते॥ ३॥

वानप्रस्थ भी चार प्रकार के होते हैं, वे हैं— वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप। इनमें वैखानस वानप्रस्थी वे हैं, जो स्वतः उत्पन्न तथा पक्व ओषधियों और वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती हैं, से अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञ करते हुए आत्म-साधना करते हैं। उदुम्बर वानप्रस्थी वे हैं, जो प्रातःकाल उठकर जिस किसी दिशा में दृष्टिपात होने पर उधर ही जाकर गूलर, बेर, नीवार तथा साँवाँ से अग्निहोत्र करके पञ्चमहायज्ञ सम्पन्न करते हुए आत्म-साधना करते हैं। बालखिल्य वानप्रस्थी वे हैं-जो जटा धारण करते हैं, चीर, चर्म (मृगचर्मादि) और वृक्षों की छाल रूप वस्त्र धारण करते हैं तथा (चार मास तक पुष्प-फल आदि ग्रहण करके) कार्तिकी पूर्णिमा पर (संचित) पुष्प-फल आदि का परित्याग कर देते हैं और (अगले) शेष आठ मास अपना जीविकोपार्जन (स्वयं उपार्जित) करके, अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं। फेनप वानप्रस्थी वे हैं, जो विक्षिप्त के समान रहते हुए जीर्ण पत्ते तथा फल ग्रहण करते हुए जहाँ कहीं भी स्थान मिले, वहीं निवास करते हुए अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ ३॥

परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति कुटीचरा बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र कुटीचराः स्वपुत्रगृहेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधारिणः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसा एकदण्डधराः शिखावर्जिता यज्ञोपवीतधारिणः शिक्यकमण्डलुहस्ता ग्रामैकरात्रवासिनो नगरे तीर्थेषु पञ्चरात्रं वसन्त एकरात्रद्विरात्रकृच्छ्रचान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। परमहंसा नदण्डधरा मुण्डाः

कन्थाकौपीनवाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डकमण्डलु-शिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतानां त्यागिनः शून्यागारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न चानृतं सर्वसहाःसर्वसमाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नचातुर्वर्ण्य-भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त आत्मानं मोक्षयन्त इति ॥ ४ ॥

परिव्राजक (संन्यासी) भी चार प्रकार के होते हैं-कुटीचर (या कुटीचक), बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें कुटीचर वे होते हैं, जो अपने पुत्र आदि के गृहों से भिक्षाचरण करते हुए आत्म-साधना करते हैं (आत्म चिन्तन करते हैं)। बहूदक वे हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (रस्सी से बुना हुआ सींका अथवा झोला) पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन तथा कषाय (भगवा) वेष धारण करते हुए सच्चरित्र ब्राह्मणों के घरों में भिक्षाचरण करते हुए आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हैं। हंस वे हैं, जो एक दण्ड धारण करते हैं, शिखारहित यज्ञोपवीतधारी हाथ में शिक्य (सींका) और कमण्डलु धारण करने वाले हैं। वे ग्राम में केवल एक रात्रि तथा नगर और तीर्थ में पाँच रात्रि विश्राम करते हैं। वे एक रात्रि, दो रात्रि कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करते हुए आत्म-तत्त्व का चिन्तन करते हैं। परमहंस वे हैं, जो दण्ड धारण नहीं करते, मुण्डित रहते हुए कन्था और कौपीन धारण करते हैं। वे अव्यक्त लिङ्ग (अर्थात् अप्रकट चिह्न) वाले, अव्यक्त (गुप्त) आचरण वाले अर्थात् धीर-शान्त रहने वाले होते हैं, जो अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त की तरह व्यवहार करते हैं। वे त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (छीका), पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा और यज्ञोपवीत आदि का त्याग कर देते हैं। वे शून्यगृह (निर्जन घर) अथवा देवालय में वास करते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य कुछ नहीं होता। वे सब कुछ सहन करने वाले, समदर्शी और मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझने वाले होते हैं। वे यथालब्ध सन्तोषी तथा चारों वर्णों से भिक्षा प्राप्त करते हुए आत्मा को बन्धन से मुक्त करते हैं, आत्मा के मोक्ष हेतु उपाय करते हैं॥ ४॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥

॥ इति आश्रमोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कठरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसे 'कण्ठरुद्रोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें देवताओं द्वारा ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा किए जाने पर भगवान् प्रजापति ने संन्यास आश्रम में प्रवेश की विधि सहित आत्म तत्त्व का विवेचन किया है। प्रथम तीन कण्डिकाओं में संन्यास ग्रहण करने की विधि है। ४ से ११ तक संन्यासोपरांत निर्वाह किए जाने वाले विविध अनुशासनों का वर्णन है। उसके बाद ब्रह्म एवं माया का वर्णन करते हुए तन्मात्राओं एवं ब्रह्माण्ड रचना का उल्लेख है। पंचआत्मा-पंचकोशों का मर्म समझाते हुए परमात्म तत्त्व को ही ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं फल आदि के रूप में स्थापित किया गया है। अंत में इस सारे कथोपकथन को वेदान्त का सार कहा गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन्नधीहि भगवन्ब्रह्मविद्याम्। स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

एक बार समस्त देवगण भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समीप जाकर बोले-हे भगवन्! आप कृपा करके हम लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करें; तब प्रजापति ने कहा- ॥ १ ॥

सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्कृष्य ततः पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता। अथ पुत्रो वदत्यहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति। तान्येतान्यनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत्। यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात्। प्रदक्षिणमावृत्त्यैतच्चैतच्चा-नवेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति। स स्वर्ग्यो भवति ॥ २ ॥

शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराकर और यज्ञोपवीत का परित्याग करके, अपने पुत्र को देखकर उससे इस प्रकार कहे कि 'तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ॐकार हो , तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो'। ऐसा सुनने के बाद पुत्र कहे कि 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा और स्वधा हूँ, मैं ही धाता, विधाता, त्वष्टा भी हूँ तथा प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ।' इस प्रकार से परिव्राजक (संन्यासी) होकर घर से बाहर निकलने पर जब पुत्र-पत्नी आदि पीछे-पीछे गमन करें, तो उन्हें देखकर के अश्रुपात न करे। यदि अश्रुपात करेगा, तो उसकी संतान विनष्ट हो जायेगी। तदनन्तर वे समस्त परिवारीजन संन्यासी की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् उसे बिना देखे ही यदि वापस लौट जाते हैं, तो इस तरह का संन्यासी देवलोक का अधिकारी होता है॥ २॥

[पिता द्वारा पुत्र से दुहरवाये जाने वाले वाक्यों के पीछे उनका महत्त्वपूर्ण मन्तव्य है। सद्गृहस्थ जब संन्यासी बने, तो पुत्र को दायित्व सौंपने के साथ उसे आत्म गौरव का बोध करा दे; ताकि पिता का संरक्षण हट जाने पर भी वह आत्महीनता से ग्रस्त न हो, जाग्रत् आत्मविश्वास के साथ अपने दायित्वों का आदर्शनिष्ठ ढंग से निर्वाह कर सके। बिना अश्रुपात के विदाई के पीछे भी मोह मुक्त और आत्म विश्वास युक्त होकर होने का भाव है।]

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपो पाधिभिर्वितत्येष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च। सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयात्। द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात्। द्वादशरात्रस्यान्ते-ऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालमग्निम्। संस्थितानि पूर्वाणि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात्। मृण्मयान्यप्सु जुहुयात्। तैजसानि गुरवे दद्यात्। मा त्वं मामपहाय परागाः। नाहं त्वामपहाय परागामिति। गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेष्वरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके। सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। पयसा यं प्राश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमः। यत्प्रातः सोऽयं प्रातः। यद्दर्शे तद्दर्शम्। यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यम्। यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः॥ ३॥

ब्रह्मचारी द्वारा वेदों-शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद विवाह करके गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उनको सुसंस्कृत बनाकर, अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ-हवन आदि करने के उपरान्त अपने इष्ट-मित्रों तथा गुरुजनों से आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला वन में जाकर द्वादश रात्रियों तक दुग्ध से अग्निहोत्र करे और साथ ही द्वादश रात्रियों तक केवल दुग्धाहार पर रहे। द्वादश रात्रियों के पश्चात् विष्णु एवं रुद्र से सम्बन्धित चरु को, जो तीन कपाल (मिट्टी के पात्रों) पर सिद्ध किया (पकाया) गया हो; वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापति के उद्देश्य से हवन कर दे। अग्निहोत्र में उपयोग किये हुए काष्ठ पात्रों को भी अग्नि में आहुति रूप में समर्पित कर दे। मिट्टी के पात्रों को जलाशय में समर्पित कर दे और स्वर्णादि के बने पदार्थों को अपने गुरु को दे दे। उस समय (गुरु के प्रति) इस प्रकार कहे 'तुम मुझे छोड़कर दूर गमन न करना तथा मैं तुम्हें त्याग कर दूर नहीं जाऊँगा।' कुछ शास्त्रों का मत है कि इसके पश्चात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन तीन प्रकार की यज्ञाग्नियों से अरणियों के पास से एक मुट्ठी भस्म लेकर पान (ग्रहण) करे। शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराके तथा यज्ञोपवीत को उतार कर 'ॐ भूः स्वाहा' मंत्र को पढ़ते हुए जलाशय में विसर्जित कर दे। तत्पश्चात् अनशन, जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरों के मार्ग का अनुसरण करके महाप्रस्थान करे या फिर किसी वृद्ध संन्यासी के आश्रम में निवास हेतु गमन करे। दुग्ध अथवा जल के सहित जो कुछ भी वह भोजन करे, वही भोजन उसका सायंकालीन यज्ञ है और प्रातःकाल के समय में जो भोज्य पदार्थ ग्रहण करे, वही उसका प्रातःकालीन हवन है। अमावस्या के दिन जिस भोजन को ग्रहण करता है, वही उसका दर्शयज्ञ है। पूर्णिमा को जो भोजन ग्रहण करता है, वही उसका पौर्णमास्य यज्ञ है और वसन्त ऋतु में जो वह केश, दाढ़ी, मूँछ, रोएँ, नख आदि कटवाता है, वही उसका अग्निष्टोम कहा गया है॥ ३॥

[संन्यासी कर्मकाण्डपरक अग्निहोत्र का त्याग करके जीवन की प्रत्येक क्रिया को यज्ञ रूप बनाये, यह भाव यहाँ स्पष्ट है। उच्चस्तरीय जीवन साधना अपनाये बिना केवल कर्मकाण्ड त्याग कर संन्यास धर्म की पूर्ति संभव नहीं है।]

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेन्मृत्युर्जयमावहमित्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेत्। अनिकेतश्चरेत्। भिक्षाशी यत्किंचिन्नाद्यात्। लवैकं न धावयेज्जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जमिति। तदपि श्लोका भवन्ति॥४॥

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् पुनः अग्नि का आधान अर्थात् अग्नि की स्थापना नहीं करनी चाहिए।

केवल 'मृत्युर्जयमावहम्' आदि आध्यात्मिक मन्त्रों का जप करना चाहिए। समस्त भूत-प्राणियों का कल्याण हो, ऐसा कहकर केवल आत्मतत्त्व का चिन्तन करता हुआ, ऊर्ध्व की ओर हाथों को उठाये हुए (परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से साधन प्राप्त होने की कामना से मुक्त होकर) प्रपञ्च रहित मार्ग में गृहहीन होकर विचरण करे। भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण न करे। एक स्थान पर क्षण-मात्र भी न रुके, सतत विचरण करता रहे। जीव-हिंसा से बचे रहने के लिए वर्षाकाल में विचरण की प्रक्रिया को विराम दे दे। इस संदर्भ (संन्यासी की मर्यादा) में कुछ श्लोक भी हैं॥ ४॥

कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ५॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६॥
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत्॥ ७॥
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८॥

संन्यास ग्रहण करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह कुण्डिका, चमस (यज्ञीय पात्र) और शिक्य (झोली) आदि को एवं तिपाई, जूते, (जाड़े को दूर करने वाली) कन्था (कथरी), कौपीन के ऊपर अङ्गाच्छादन करने वाला वस्त्र, कुश की बनी हुई पवित्री, स्नान के पश्चात् धारण करने वाले वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन आदि सभी का परित्याग कर दे। वह अपना स्नान, पान एवं शौच आदि कृत्य पवित्र जल से सम्पन्न करे। नदी के तट पर अथवा देव मंदिर में जाकर शयन करे। वह अधिक विश्राम न करे अथवा अधिक परिश्रम से शरीर को व्यर्थ में कष्ट न दे। वह दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा श्रवण करके न प्रसन्न हो तथा न निन्दा या अपमान किये जाने पर गाली अथवा शाप दे॥ ५-८॥

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी। दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्॥ ९॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १०॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः। यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११॥

संन्यासी को आलस्य-प्रमाद से रहित होकर संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए जीवनयापन करना चाहिए। स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, क्रीड़ा, चर्चा, गुह्य (काम तत्त्व से सम्बन्धित) विषयों की बात-चीत, काम-सङ्कल्प, सम्भोग के लिए प्रयत्न तथा सम्भोग की क्रिया-ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वान् पुरुषों के द्वारा बताये गये हैं। उक्त आठ प्रकार के मैथुन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले लोगों को करना चाहिए॥ ९-११॥

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः। प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः॥ १२॥
न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्। ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः॥१३॥

जो जगत् को प्रकाश देने वाला है, नित्य प्रकाश रूप में स्वप्रकाशित है, वही समस्त जगत् का साक्षी है, निर्मल आकृति वाला (वह) सभी की आत्मा है। वह प्रज्ञानघन के रूप में है, समस्त प्राणि-समुदाय उसी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही दूसरे अन्य किसी साधन के द्वारा पा सकता है; अपितु वह उस परब्रह्म को ब्रह्मानुभव के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है॥ १२-१३॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम्। संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥ १४॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते। सोऽश्नुते सकलान्कामान्क्रमेणैव द्विजोत्तमः॥ १५॥
प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्॥ १६॥

वह सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान एवं गुहा आदि नामों से कहे जाने वाले संसार में विद्यमान है। उस ब्रह्म को मात्र विद्या (सद्ज्ञान) के माध्यम से ही जाना जाता है। जो मनुष्य परम व्योम रूपी नित्य धाम में विद्यमान इस अविनाशी ब्रह्म को जानता है, वह (द्विजों में श्रेष्ठ) ब्राह्मण क्रमानुसार समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अज्ञान एवं माया शक्ति के साक्षीरूप प्रत्यगात्मा को जो मनुष्य 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार जानता है, वह (मनुष्य) स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ १४-१६॥

[ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने वाले साधक को यह गूढ़ तथ्य समझ में आने लगता है कि अव्यक्त आत्मतत्त्व से किस प्रकार व्यक्त सृष्टि प्रकट होती है। सृष्टि का यह क्रम आगे के मंत्रों में स्पष्ट किया गया है।]

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात्। अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत्॥ १७॥
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः। वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा॥ १८॥
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा। तेभ्य एव विसृष्टं तद्ब्रह्माण्डादि शिवेन ह॥१९॥
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः। मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः॥ २०॥

शक्ति सम्पन्न इस ब्रह्म रूप आत्मा से उसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाश अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं, जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) में सर्प की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् पुनः आकाश से वायु संज्ञक अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर वायु से अग्नि की उत्पत्ति, अग्नि से जल की उत्पत्ति और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। उन सूक्ष्म भूतों को शिवस्वरूप ईश्वर ने पञ्चीकृत करके उन्हीं से ब्रह्माण्ड आदि की रचना की। ब्रह्माण्ड के उदर में समस्त भूत-प्राणियों के पूर्वकृत कर्मानुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों की सृष्टि-रचना हुई॥ १७-२०॥

[रस्सी में साँप की प्रतीति तभी तक होती है, जब तक देखने वाले की दृष्टि यथार्थ तक नहीं पहुँच पाती। पदार्थ की रचना की प्राथमिक इकाई परमाणु है। सभी पदार्थों के परमाणु इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि के विविध संयोगों से ही बने हैं। उन उपकणों (सबएटामिक पॉर्टिकल्स) को देख सकने वाले के लिए सभी पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार मूल तत्त्व आत्म तत्त्व को देख पाने वाले के लिए यह संसार एक भ्रम जैसा ही रह जाता है।]

अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम्। योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः॥२१॥
ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः। ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः॥ २२॥
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरः स्वतः। आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः॥२३॥
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु। मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः॥ २४॥
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु। आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम्॥ २५॥
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणोऽन्येन साक्षिणा। सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित्॥ २६॥

अस्थि, स्नायु आदि से निर्मित यह समस्त जीवों का शरीर भी अपने कर्मानुसार ही प्रकाशित हो रहा है। सभी शरीर धारण करने वालों का यह जो अन्नमय आत्मा स्थूल शरीर के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है, उससे पृथक् एक प्राणमय आत्मा और है, जो कि इस अन्नमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी सूक्ष्म और भिन्न मनोमय आत्मा है, जो प्राणमय के अन्दर स्थित है। इससे सूक्ष्म विज्ञानमय आत्मा है, जो मनोमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी अतिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा है, जो विज्ञानमय आत्मा के अन्दर स्थित है। अन्नमय आत्मा प्राणमय से परिपूर्ण है, वैसे ही प्राणमय आत्मा स्वभावानुसार मनोमय आत्मा से पूर्ण है। मनोमय आत्मा विज्ञानमय से पूर्ण है तथा सदा सुखस्वरूप विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय से परिपूर्ण रहता है। आनन्दमय

आत्मा अपने से अलग साक्षिरूप सर्वत्र व्याप्त, अन्तर्यामी ब्रह्म के द्वारा परिपूर्ण है। वह ब्रह्म किसी दूसरे के द्वारा नहीं; वरन् अपने आप ही सभी तरफ से परिपूर्ण है॥ २१-२६॥

[यहाँ पंच कोश और पंचात्मा का मर्म स्पष्ट किया गया है। हर काया को आकार अन्नमय से, ऊर्जा प्राणमय से, कामना मनोमय से, नैसर्गिक विभूतियाँ आदि विज्ञानमय से तथा आनन्दानुभूति आनन्दमयकोश से प्राप्त होती है। किसी स्थूल माध्यम से व्यक्त होने के कारण उसे आत्मा तथा किसी सूक्ष्म से परिपूर्ण होने के नाते उसे कोश कहा गया है।]

यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम्। सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम्॥ २७॥
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः। असत्यस्मिन्परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम्॥२८
को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते। तस्मात्सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः॥ २९
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे॥ ३०॥
निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः। तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥३१॥
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम्। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥३२॥
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः। अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः॥३३
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु। तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः॥ ३४॥
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति परे यथा। निमित्तं किंचिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते॥ ३५॥
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः। निर्विशेष परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते॥ ३६॥
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम्। यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च॥ ३७॥

जो यह ज्ञान एवं सत्य के रूप में अद्वितीय परब्रह्म है, वही सबका आश्रय-स्थल है। वह सबका सार एवं रसस्वरूप है। उस सनातन तत्त्व को पाकर के यह देही (जीवात्मा) सर्वत्र सुखानुभव प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र सुख का भाव कहाँ है? सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के आत्मस्वरूप इस परानन्द (परमानन्द) ब्रह्म के उपस्थित न रहने पर भला कौन मनुष्य जीवित रह सकता है अथवा कौन-सा प्राणी नित्य चेष्टा करता है? अतः जो सर्वान्तर्यामी रूप से सभी के चित्त में प्रतिभासित होता है, वही परब्रह्म अविनाशी परमात्मा दुःखों से घिरे हुए जीवात्मा को सदैव आनन्द प्रदान करता है। जो अदृश्यत्व आदि लक्षणों से युक्त इस पर-तत्त्व से अभेदरूप परम अद्वैतरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वही महायति (संन्यासी) है। देश-काल एवं पात्र से अपरिच्छिन्न, सत्यस्वरूप परब्रह्म ही अभयपद, परम अमृततुल्य एवं कल्याणमय है। जब तक मनुष्य को इसमें थोड़ा भी व्यवधान दृष्टिगोचर होता है, तब तक उसे (जन्म-मृत्यु का) भय बना रहता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। छोटे से छोटे क्षुद्र तृण से लेकर भगवान् विष्णु तक सभी तारतम्य के अनुसार आनन्द रूप कोश से नित्य ही आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त, प्रसन्नमना श्रोत्रिय को यह स्वरूप भूत-आनन्द स्वयमेव अनुभूत होता है। यह अनुभूति उस परमात्म पद के अनुरूप ही होती है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती; क्योंकि शब्द तो किसी आश्रय के सहारे ही व्यक्त होता है। परातत्त्व में निमित्त का अभाव होने के कारण वाणी वहाँ से वापस लौट आती है। जो सभी विशेषों से रहित परानन्दरूप तत्त्व है, वहाँ पर शब्द की प्रवृत्ति किस प्रकार से हो? इसलिए यह मन अतिसूक्ष्म और सीमित शक्ति से युक्त होकर इधर-उधर सभी जगह गमन करता रहता है; क्योंकि श्रोत्र, त्वक् एवं नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द स्पर्शादि उनके विषय तथा वाणी, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली हैं॥ २७-३७॥

व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु। तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्॥ ३८॥

विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन। एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥ ३९ ॥
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः। तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥४० ॥

इसलिए परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने में ये समस्त इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हैं। जो पुरुष उस द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्यस्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्द को 'यह मेरा ही स्वरूप है,' ऐसा जान लेता है, उसे कहीं पर भी भय नहीं व्याप्त होता। इस तरह से जो भी जितेन्द्रिय मनुष्य अपने गुरु के उपदेश द्वारा आत्म साक्षात्कार के माध्यम से ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है, वह सत्य-असत्य कर्मों के द्वारा कभी भी संतप्त नहीं होता। विषय-भोग तापक हैं और चित्त ताप्य है, चित्त एवं उसके विषयों से यह सम्पूर्ण विश्व विभासित हो रहा है ॥३८-४० ॥

[पदार्थ विज्ञान ने पदार्थ के स्पन्दनों के अनुभव करने वाले माध्यम (सैन्सर्स) खोजे हैं, भाव स्पन्दनों का अनुभव करने वाला माध्यम (सैन्सर) चित्त है। विषय-भोगों द्वारा स्पंदन उत्पन्न करने तथा चित्त द्वारा उनका अनुभव किए जाने की क्षमताओं का संयोग ही भासित होने वाले विश्व का मूल कारण है, अन्यथा कुछ नहीं है। जैसे पदार्थ द्वारा प्रकाश का परावर्तन तथा आँख द्वारा उसका अनुभव करने की क्षमता के संयोग से हर दृश्य-रूप बनता है।]

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् । शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥ ४१ ॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा। इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥ ४२ ॥
मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते। मायासंबन्धश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ४३ ॥
अन्तःकरणसंबन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते। तथा तद्वृत्तिसंबन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४ ॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते। तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥ ४५ ॥

वेदान्त-शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि वह प्रत्येक आत्मा के रूप में है। सात तरह के जिन तत्त्वों का वर्णन किया गया है, वे ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल हैं, इसमें व्यावहारिक दृष्टि से भेद माना गया है। परब्रह्म परमात्मा तो शुद्ध-चैतन्य स्वरूप है, वह माया के द्वारा निर्मित उपाधियों से सदा-सर्वदा मुक्त रहता है। मायारूप होने से वह ईश्वर है एवं अविद्या (अज्ञान) के वश में होने के कारण वह जीव हो जाता है। उसका अन्तःकरण से सम्बन्ध होने से वही प्रमाता (ज्ञाता) कहा जाता है। उसके चित्त द्वारा अनुभूति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होता है। वह चैतन्य युक्त ब्रह्म जब तक खोजा जाता है, तब तक प्रमेय है और वही जब ज्ञात हो जाता है, तब फल संज्ञक हो जाता है ॥ ४१-४५ ॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः। एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः। स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ४७ ॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुष, अपने आपको 'मैं सब उपाधियों से मुक्त हूँ'-ऐसा मानकर मुक्तावस्था का सतत चिंतन करे। इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में सदा ही समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सर्वसिद्धान्तों का सार यथार्थरूप में कहा है। अपने कर्मों से जीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वयं ही अवशिष्ट रूप में बचा रहता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है ॥ ४६-४७ ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥

॥ इति कठरुद्रोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कुण्डिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें मंत्र क्र० १ से १३ तक सद्गृहस्थ के दायित्व पूरे होने पर संन्यास आश्रम में प्रवेश तथा उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला गया है। उसके बाद संन्यासी की अन्तर्मुखी साधनाओं का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि पहले जप-ध्यान के माध्यम से उस ब्राह्मी चेतना की अवतरण-प्रक्रिया का बोध करे और सर्वत्र उसे आत्म-चेतना के रूप में संव्याप्त अनुभव करे। इसके बाद तन्मात्राओं के संयम के द्वारा अनाहत नाद के माध्यम से जीव चेतना के उन्नयन की साधना सम्पन्न करे-इसी विशिष्ट साधना क्रम का यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः। वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर गुरु की सेवा में लगे हुए जिस पुरुष को गुरु (अपने घर) जाने की आज्ञा प्रदान कर देते हैं, वह व्यक्ति आश्रमी कहा जाता है ॥ १ ॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः। ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अनुकूल स्त्री को स्वीकार करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार अग्नि को ग्रहण करके ब्रह्म यज्ञ में संलग्न रहकर अपना जीवन-यापन करे ॥ २ ॥

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च। संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अपने पुत्रों में धन को बाँट करके, ग्राम (गाँव-घर) से सम्बन्धित सभी कार्यों को पुत्रों को सौंप करके, पवित्र देश (क्षेत्र) में भ्रमण करते हुए वन के लिए प्रस्थान करना चाहिए ॥ ३ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः। स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥४

संन्यासी को वायु अथवा जल सेवन करके अथवा विहित (शास्त्रानुमोदित) कन्द-मूल आदि से सतत अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही (संसार को) शरीर तक सीमित मानकर (मोह-ममतावश) अश्रुपात नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते। सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

परन्तु इतने सामान्य से कर्म के करने मात्र से कोई भी व्यक्ति संन्यासी नहीं कहा जा सकता है। यह तो साधारण नियम का पालन है, संन्यासी के नियम इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ ५ ॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम्। अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥६ ॥

इसके लिए फल की इच्छा न रखते हुए संन्यास धर्म से मुक्ति प्राप्त करके वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अग्नि का परित्याग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए ॥ ६ ॥

लोकवद्भार्ययाऽऽसक्तो वनं गच्छति संयतः। संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७ ॥
किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान्। गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ॥८ ॥

साधारण लोगों की तरह स्त्री एवं सांसारिक सुखों का परित्याग कर वन में गमन करके अनुष्ठान आदि करने से क्या लाभ है? अथवा गर्भवास के भय से ठंडी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से भयभीत हुआ मनुष्य सांसारिक भोगों का त्याग क्यों करता है? ॥ ७-८ ॥

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति। संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जायमावहमिति। अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। दीक्षामुपेयात्काषायबासाः। कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत्। ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति। अनिकेतश्चरेद्भिक्षाशी। निदिध्यासनं दध्यात्। पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम्। तदपि श्लोका भवन्ति। कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ९॥ पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः॥ १०॥

इस प्रकार के कृत्य करने का कारण यही है कि वह (संन्यासी) उस गूढ़ परमपद में प्रविष्ट होने की इच्छा रखता है। वह मृत्यु को जीत लेने वाले महाकाल का सतत स्मरण करता रहता है, वह सदा ही आध्यात्मिक मंत्रों का जप करता है तथा काषाय (भगवा) वस्त्रों को धारण करके दीक्षा ग्रहण कर लेता है। कुक्षि (कोख-काँख) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) स्थान के बालों को छोड़कर अन्य सभी बालों का क्षौर करा लेता है। वह अपनी दोनों भुजाएँ ऊर्ध्व की ओर करके इच्छानुसार भ्रमण करता है। गृह विहीन वह भिक्षा ग्रहण करके जीवन-यापन करता है। उसे निदिध्यासन करते रहना चाहिए। जन्तुओं से संरक्षण के लिए पवित्री को धारण किये रहना चाहिए। कमण्डलु, चमस, छींका, त्रिविष्टप, जाड़े से रक्षा हेतु गुदड़ी, कौपीन (लँगोटी), स्नान करने के लिए धोती एवं अँगौछा पास में रखना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और सभी कुछ संन्यासी को परित्याग कर देना चाहिए॥ ९-१०॥

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः। नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्॥ ११॥

(वह यदि) चाहे तो अपनी इच्छानुसार नदी के तट पर शयन करे। बिना कोई विशेष कारण के शरीर को सुख-दुःखादि द्वारा कष्ट नहीं देना चाहिए॥ ११॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान्॥ १२॥

स्नान के लिए, पीने के लिए तथा शौचादि के लिए शुद्ध जल का सेवन करना चाहिए। वह न तो स्तुति-प्रशंसा आदि से प्रसन्न हो और न ही निन्दा-अपमान होने पर किसी को शाप आदि ही दे॥ १२॥

भिक्षादिवैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम्। एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा॥ १३॥

भिक्षा के लिए पात्र तथा स्नान आदि के लिए जल जिस किसी भी तरह से मिले, उसे प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनुपम, श्रेष्ठ आचरण को स्वीकार करके यति को सदा ही जप करते रहना चाहिए॥१३॥

विश्वाय मनुसंयोगं मनसा भावयेत्सुधीः। आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी। एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्ये। अजरममरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये। मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात्॥ १४॥

सुधीजनों को अपने मन में यह भावना करनी चाहिए कि यह विश्वरूप ब्रह्म और मनु अर्थात् प्रणव रूप अक्षर ब्रह्म दोनों एक ही हैं। आकाश से वायु, वायु से ज्योति (अग्नि), ज्योति से जल और जल से पृथ्वी इन सभी भूतों में जो अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे उस (ब्रह्म) को मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को (मैं) प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख-सागर रूप हूँ। मेरे मध्य में बहुत सी लहरें मायारूपी वायु के द्वारा प्रादुर्भूत एवं विलीन होती हैं॥ १३-१४॥

[यहाँ ब्राह्मी चेतना के सूक्ष्म से स्थूल में क्रमशः अवतरण का ध्यान बतलाया गया है। आगे इसी चेतना के स्थूल से सूक्ष्म में आरोहण की साधना पर भी प्रकाश डाला गया है।]

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः। अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु॥ १५॥

मेरा इस शरीर से उसी तरह का सम्बन्ध नहीं है, जैसे-आकाश का मेघ से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः इस शरीर के जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मेरा (जीवात्मा का) क्या सम्बन्ध है?॥ १५॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम्।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्॥१६॥

मैं (जीवात्मा) आकाश की भाँति कल्पना से परे अर्थात् ऊपर हूँ, सूर्य के सदृश अन्य सुनहले आकर्षक पदार्थों से पृथक् हूँ, पर्वत की तरह सतत स्थिर रहता हूँ तथा समुद्र की तरह अपार हूँ॥ १६॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः॥ १७॥

मैं ही नारायण हूँ। नरकान्तक (नरकासुर का वध करने वाले), पुरान्तक (त्रिपुरासुर का वध करने वाले), पुरुष तथा ईश्वर भी मैं ही हूँ। मैं ही अखण्ड बोध स्वरूप, समस्त प्राणियों का साक्षी, ईश्वररहित (मेरे ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं), अहंकाररहित तथा ममतारहित हूँ॥ १७॥

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति। वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत्। संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रे विनिर्गताम्॥ १८॥

अब प्राण एवं अपान के अभ्यास के विषय में वर्णन करते हैं। वृषण तथा गुदा के बीच में दोनों हाथों को रखे। दाँतों से जिह्वा को शनैः-शनैः दबाते हुए एक जौ के बराबर बाहर निकाले॥ १८॥

माषमात्रां तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि। श्रवणे नासिके गन्धा यतः स्वं न च संश्रयेत्॥

माष मात्र (उड़द के बराबर) लक्ष्य को अनुसंधान करके दृष्टि को श्रोत्र और पृथ्वी पर स्थिर करे। जिससे श्रवण (शब्द) और नासिका में गन्ध न स्थापित हो सके॥ १९॥

आगे के मंत्र क्र० २०,२१,२२ में सभी तन्मात्राओं को रुद्ध करके हृदय के तप से उत्पन्न नाद के माध्यम से आत्म-चेतना को ब्राह्मी चेतना के साथ संयुक्त करने की साधना का संकेत है। उसके लिए देहस्थ सभी तन्मात्राओं को संयमित करने की स्वानुभूत प्रक्रिया का संकेत ऋषि ने मंत्र क्र० १८,१९ में किया है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं का संयोग है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँचों तन्मात्राओं को बाहरी संवेदना से असम्बद्ध करके ही अन्तः अनुभूति में उतरा जा सकता है। ध्यान में नेत्र बन्द करने से अग्नि की तन्मात्रा 'रूप' के बाह्य संकेत बद्ध हो जाते हैं। मंत्र १८ के अनुसार-संयम, धारणा, ध्यान, समाधि से स्पर्श एवं रस की तन्मात्राएँ अन्तर्मुखी होती हैं। मंत्र १९ में पृथ्वी और श्रोत्र पर दृष्टि स्थिर करने के लिए उड़द के बराबर लक्ष्य का अनुसंधान करने को कहा गया है। वह बिन्दु कहीं नासिका मूल और कर्णमूलों के मध्य मस्तिष्क में ही हो सकता है, जहाँ गंध और शब्द का अनुभव करने वाले संवेदन कोष (सैंसिग सैल) स्थित हों, वहाँ अन्तः दृष्टि- ध्यान केन्द्रित करने से नासिकारंध्रों में प्रवेश करने वाली गंध तथा कर्णरंध्रों से प्रवेश करने वाले शब्द-अन्तःक्षेत्र की तन्मात्राओं में स्थापित नहीं हो सकते। इस प्रकार बहिर्जगत् से सभी तन्मात्राओं को असम्बद्ध करके ही अन्तःस्थिति-ब्राह्मीचेतना की प्रभावी अनुभूति संभव होती है—

अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम्। तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम्॥ २०॥

जो ब्रह्म का चिंतन करता है, वही स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है तथा वही शिव है। उस (अविनाशी ब्रह्म) को पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य कर्मों के फलस्वरूप अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥ २०॥

संभूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते। ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम्॥ २१॥

वायु के नाद का प्रकट होना ही हृदय का तप कहा जाता है, वह शरीर को भेदकर ऊर्ध्व की ओर गमन करता हुआ मूर्धा को प्राप्त कर लेता है॥ २१॥

सामान्य जीवन में पृथ्वी तत्त्व के संचरण से गंध उत्पन्न होती है। गंध की अनुभूति से जल-रस सक्रिय होकर स्वाद को उत्तेजना मिलती है। रस की उत्तेजना से अग्नि-जठराग्नि में तीव्रता आती है। अग्नि की तीव्रता से शरीरस्थ वायु-प्राण की संचरण प्रक्रिया तीव्र होती है। प्राण की गतिशीलता से विविध सांसारिक सुखोपभोगों की क्षमता का विकास होता है। योगस्थ स्थिति में तन्मात्राओं को रुद्ध करके बाह्य सुखानुभूति-परक उनकी सक्रियता को घटाकर अन्तः आनन्द की ओर उन्हें उन्मुख किया जाता है। ऐसी स्थिति शरीरस्थ वायु-प्राण के गतिशील होने पर अक्षर अनाहत नाद की अनुभूति होती है। यह नाद मूर्धास्थित सहस्रार एवं ब्रह्मरंध्र को सक्रिय करके परमगति का मार्ग खोलने में समर्थ होता है-

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम्। भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥ २२॥

अपने इस शरीर में मूर्धा को प्राप्त कर लेना ही परमगति कहा गया है। जो मनुष्य इस गति को प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी जन आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं॥ २२॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्। अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत्॥ २३॥

विकाररहित और उदासीन भावयुक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नहीं कर सकता, जिस प्रकार गृह-धर्म प्रज्वलित दीप पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकता॥ २३॥

[दीपक के प्रकाश में ही गृही (घर में रहने वाला) अपने विभिन्न धर्म कर्त्तव्यों को सम्पन्न करता है; लेकिन दीपक उन सबसे अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार योगी की चेतना उसकी काया द्वारा विविध कर्म किये जाने की स्थिति तो पैदा करती है; लेकिन स्वयं उससे अप्रभावित रहती है।]

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः। नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ २४॥

यह जड़ात्मक शरीर चाहे जल-राशि में पड़ा रहे अथवा स्थल अर्थात् जल से रहित भूमि पर पड़ा रहे, मैं (जीवात्मा) जो स्वयं चैतन्य रूप हूँ, इस कारण से उसमें लिप्त नहीं हो सकता। जैसे घड़े के कारण घटाकाश में किसी भी तरह की विकृति नहीं आने पाती॥ २४॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः। निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः॥ २५॥ सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः। केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः॥ २६॥

मैं तो निष्क्रिय, विकाररहित, निष्कल, आकृतिरहित, निर्विकल्प, अनित्य, निरालम्ब, अद्वैत, सर्वात्मा, सर्वातीत एवं द्वयरहित हूँ। मैं केवल अखण्ड बोधस्वरूप हूँ तथा निरन्तर स्वयं आनन्दमय हूँ॥२५-२६

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम्। स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम्॥

मैं स्वयं को ही सतत देखता हूँ, स्वयं को ही अद्वैत रूप में मानता हुआ, स्वयं के आनन्द का उपभोग करता हुआ, मैं स्वयं ही निर्विकल्प रूप हूँ॥ २७॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वाऽन्यथापि वा।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिरित्युपनिषत्॥ २८॥

सतत चला हुआ, रुका हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ या कुछ भी करता हुआ, वह विद्वान् मुनि रूप आत्मा अपने में ही संतुष्ट हुआ अपनी इच्छानुसार जीवनयापन करे, ऐसी ही यह उपनिषद् है॥२८॥

ॐ आप्यायन्तु.....इति शान्तिः॥

॥ इति कुण्डिकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कैवल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखान्तर्गत है। इसमें महर्षि आश्वलायन द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर ब्रह्माजी ने कैवल्य पद प्राप्ति का मर्म समझाया है। इस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर्म, धन या संतान के सहारे असंभव बतलाते हुए उसके लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेने के लिए कहा गया है। अन्तःकरण को नीचे की अरणि तथा 'ॐकार' को ऊर्ध्व अरणि के रूप में प्रयुक्त कर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके सांसारिक विकारों को दहन करने का निर्देश दिया गया है। स्वयं को ब्राह्मी चेतना से अभिन्न अनुभव करते हुए सबको स्वयं में तथा स्वयं को सबमें अनुभव करते हुए त्रिदेवों, चराचर, पंचभूतों सभी में अभेद की स्थिति का वर्णन किया गया है। अंत में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्। यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान् ॥१ ॥

महान् ऋषि आश्वलायन भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समक्ष हाथ में समिधा लिए हुए पहुँचे और कहा- हे भगवन्! आप मुझे सदैव संतजनों के द्वारा सेवित, अतिगोपनीय एवं अतिशय वरिष्ठ उस 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश प्रदान करें, जिसके द्वारा विद्वज्जन शीघ्र ही समस्त पापों से मुक्त होकर उन 'परम पुरुष' परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि ॥ २ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजी ने कहा-हे आश्वलायन! तुम उस अतिश्रेष्ठ परात्पर तत्त्व को श्रद्धा, भक्ति, ध्यान (चिंतन) और योगाभ्यास का आश्रय लेकर जानने का प्रयास करो ॥ २ ॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥ ३ ॥

उस (अमृत) की प्राप्ति न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही धन के द्वारा हो पाती है। (उस) अमृतत्व को सम्यक् रूप से (ब्रह्म को जानने वालों ने) केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर गुहा अर्थात् बुद्धि के गह्वर में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस (ब्रह्मलोक) में संयमशील योगीजन ही प्रविष्ट होते हैं ॥ ३ ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ४ ॥

जिन (योगीजनों) ने वेदान्त के विशेष ज्ञान से एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (अनुभूति) के द्वारा (उस) परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, ऐसे वे पवित्र अन्तःकरण से युक्त योगीजन संन्यास-योग के द्वारा ब्रह्मलोक में गमन करके अमृततुल्य हो कल्पान्त में मुक्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥ ५ ॥

(योगीजन) स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् एकान्त स्थान में सुखासन से बैठें। उसके पश्चात् ग्रीवा, सिर तथा शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों का निरोध करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करें। तदनन्तर संन्यास आश्रम में स्थित (वे) योगीजन अपने हृदय-कमल में रजोगुण से रहित, विशुद्ध, दुःख-शोक से रहित आत्म तत्त्व का विशद चिन्तन करें॥ ५॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥ ६॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ ७॥

इस तरह से जो अचिन्त्य, अव्यक्त तथा अनन्तरूप से युक्त है, कल्याणकारी है, शान्त-चित्त है, अमृत है, जो निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण है, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अनुपम है, विभु (विराट्) और चिदानन्द स्वरूप है, अरूप और अद्भुत है, ऐसे उस उमा (ब्रह्मविद्या) के साथ परमेश्वर को, सम्पूर्ण चर-अचर के पालनकर्त्ता को, शान्त स्वरूप, तीन नेत्रों वाले, नीलकण्ठ को-जो समस्त भूत-प्राणियों का मूल कारण है, सभी का साक्षी है और अविद्या से रहित हो प्रकाशमान हो रहा है, ऐसे उस (प्रकाशपुञ्ज परमात्मा) को योगीजन ध्यान के माध्यम से ग्रहण करते हैं॥ ६-७॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ ८॥

वही (परात्पर पुरुष) ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर रूप में शाश्वत ब्रह्म है, वही भगवान् विष्णु है, वही प्राणतत्त्व है, वही कालाग्नि और चन्द्रमा के रूप में भी है॥ ८॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥ ९॥

जो कुछ व्यतीत हो चुका है तथा जो भविष्य में होने वाला है, सभी कुछ वही परात्पर परब्रह्म है; ऐसे उस श्रेष्ठ सनातन परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके प्राणी मृत्यु से परे अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं फँसता॥ ९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥ १०॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा को समस्त भूत-प्राणियों के समान देखता है और समस्त भूत-प्राणियों को अपनी अन्तरात्मा में देखता है, ऐसा ही वह (साधक) परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करता है; वह अन्य दूसरे और किसी उपाय से उस (ब्रह्म) को नहीं प्राप्त कर सकता है॥ १०॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥ ११॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को नीचे की अरणि एवं ॐकार (प्रणव) को ऊर्ध्व की अरणि बनाते हुए ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास-प्रक्रिया द्वारा जगत् के बन्धनों-पापों को विनष्ट कर डालते हैं अर्थात् ज्ञानाग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं॥ ११॥

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति॥ १२॥

वही (जीवात्मा) माया के अधीन हुआ, अति मोहग्रस्त होकर शरीर को ही अपना स्वरूप स्वीकार करते हुए सभी तरह के कर्मों को करता रहता है। वही जाग्रत् अवस्था में स्त्री, अन्न-पान आदि विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करता हुआ तृप्ति लाभ प्राप्त करता है॥ १२॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति॥ १३॥

स्वप्नावस्था में वही जीव अपनी माया के द्वारा कल्पित जीवलोक में सभी तरह के सुख और दुःख का उपभोग करने वाला बनता है तथा सुषुप्ति काल में माया द्वारा रचित समस्त प्रपञ्चों के विलीन होने के उपरान्त वह (जीव) तमोगुण से अभिपूरित हुआ सुख के स्वरूप को प्राप्त करता है॥ १३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥१४॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥१५॥

तत्पश्चात् पुनः वह जीव जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों की प्रेरणा से सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में अवतरित होता है। इसके अनन्तर (वह) जाग्रत् अवस्था में गमन करता है। इस तरह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप तीनों पुरियों में जो जीव क्रीड़ा करता है, उसी से यह सभी प्रपञ्चों की विचित्रता उत्पन्न होती है। इन सम्पूर्ण प्रपञ्चों का आधार-स्तम्भ आनन्दस्वरूप अखण्ड बोधस्वरूप है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर रूप तीनों पुरियाँ लय को प्राप्त होती हैं। इसी से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है; आकाश, वायु, अग्नि, जल और समस्त विश्व का धारण-पोषण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है॥१४-१५॥

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ १६॥

जो परब्रह्म परमेश्वर समस्त भूत प्राणियों की आत्मा है, जो सभी कार्य-कारण रूप जगत् का महान् आयतन (आधार) है, जो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, नित्य है, (वह) तत्त्व तुम्हीं हो, तुम वही हो॥ १६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥ १७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्था आदि जो प्रपञ्च प्रतिभासित है, वह परब्रह्म रूप है और वही मैं भी हूँ-ऐसा जानकर जीव समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ १९॥

तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) में जो कुछ भी भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में है, उनसे विलक्षण, साक्षीरूप, चिन्मय स्वरूप, वह सदाशिव स्वयं मैं ही हूँ। मैं ही स्वयं वह ब्रह्मरूप हूँ, मुझमें ही यह सब कुछ प्रादुर्भूत हुआ है, मुझमें ही यह सभी कुछ स्थित है और मुझमें ही सभी कुछ विलीन हो जाता है; वह अद्वय ब्रह्मरूप परमात्मा मैं ही हूँ॥ १८-१९॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥ २०॥

मैं (परब्रह्म) अणु से भी अणु अर्थात् परमाणु हूँ, ठीक ऐसे ही मैं महान् से महानतम अर्थात् विराट् पुरुष हूँ, यह विचित्रताओं से भरा-पूरा सम्पूर्ण विश्व ही मेरा स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही हिरण्यमय पुरुष हूँ और मैं ही शिवस्वरूप (परमतत्त्व हूँ)॥ २०॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥ २१॥
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ २२॥

वह हाथ-पैरों से रहित होते हुए भी सतत गतिशील है, जो चिन्तन से परे है, ऐसा शक्ति स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं नेत्रों के अभाव में सभी कुछ देखता हूँ, कानों के बिना भी सब कुछ श्रवण करता हूँ, बुद्धि आदि से पृथक् होकर भी मैं सब कुछ जानता हूँ; किन्तु मुझे जानने वाला कोई नहीं है, मैं सदा ही चित् स्वरूप हूँ। समस्त वेद-उपनिषदादि द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त का कर्त्ता हूँ और वेदवेत्ता भी स्वयं मैं ही हूँ॥

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च॥ २३॥

मुझ (ब्रह्म) को पुण्य-पापादि कर्म स्पर्श नहीं करते , मैं कभी विनष्ट नहीं होता और न ही मेरा कभी जन्म ही होता है। न मेरे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। मेरे लिए न भूमि है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है और न आकाश तत्त्व ही है॥ २३॥

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्। समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥ २४॥ यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्णस्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्॥

जो भी मनुष्य अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार से गुहा-अर्थात् बुद्धि के गह्वर में स्थित, निष्कल (अंग विहीन) एवं अद्वितीय,सदसत् से परे, सभी के साक्षीरूप में विद्यमान जानता है, वह पवित्रतम परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य इस शतरुद्रिय का पाठ करता है, वह अग्नि के सदृश पवित्र हो जाता है, वायु की भाँति गतिशील रहते हुए शुचिता का वरण करता है। वह सुरापान और ब्रह्म हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है; उसे स्वर्ण की चोरी का पाप भी नहीं लगता, शुभाशुभ कर्मों से उसका उद्धार हो जाता है। भगवान् सदाशिव के प्रति समर्पित हो वह अविमुक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जो (मनुष्य) आश्रम से अतीत हो गये हैं, ऐसे उन परमहंसों को सर्वदा या फिर कम से कम एक बार इस (उपनिषद्) का पाठ अवश्य करना चाहिए॥ २४-२५॥

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते कैवल्यं पदमश्नुत इति॥ २६॥

इससे उस विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान भवसागर को नष्ट कर देता है। इस प्रकार इस उपनिषद् को ऐसा जानकर व्यक्ति कैवल्य फल को प्राप्त कर लेता है, कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है॥ २६॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण का अंश है। इसमें कुल चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में गौतम (उद्दालक) एवं चित्र (गर्ग के प्रपौत्र) के संवाद द्वारा अग्निहोत्र एवं उसकी फलश्रुति पर प्रकाश डालते हुए अग्निहोत्री के मरणोपरान्त उसकी जीवात्मा किन-किन लोकों में होती हुई ब्रह्मलोक पहुँचती है, जहाँ अप्सराएँ उसका स्वागत-सत्कार करती हैं, वहाँ एक विचित्र पर्यंक (पलंग) पर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं, जिनसे अग्निहोत्र साधक की वार्ता होती है, अन्त में वह साधक ब्रह्माजी की विशेष विभूति से युक्त होकर उन्हीं के सदृश हो जाता है, इत्यादि वर्णन है। इसी को पर्यंक विद्या भी कहा जाता है। द्वितीय अध्याय में प्राणोपासना, आध्यात्मिक-अग्निहोत्र, विविध उपासनाएँ, दैवपरिमर में प्राणोपासना, मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्राणोपासक का सम्प्रदान कर्म वर्णित है। तृतीय अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद के माध्यम से प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अजातशत्रु और गार्ग्य संवाद द्वारा सर्वप्रथम सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि इत्यादि में विद्यमान चैतन्य तत्त्व की उपासना की बात कही गई है और अन्त में 'आत्मतत्त्व' के स्वरूप और उसकी उपासना की फलश्रुति का प्रतिपादन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे । स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति। तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते संवृतं लोके यस्मिन्माधास्यस्यन्यमुताहो बोद्धवा तस्य मा लोके धास्यसीति। स होवाच नाहमेतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति। स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेतीति मा प्राक्षीत्कथं प्रतिब्रवाणीति। स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्युभौ गमिष्याव इति। स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति। तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मानमुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति॥ १ ॥

गर्ग ऋषि के प्रपौत्र महर्षि चित्र ने यज्ञ करने का निश्चय करके अरुण के पुत्र महात्मा उद्दालक को प्रधान ऋत्विक् के रूप में आमन्त्रित किया; किन्तु प्रसिद्ध मुनि उद्दालक स्वयं न जाकर अपने पुत्र श्वेतकेतु को महर्षि चित्र के यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए भेजा। श्वेतकेतु अपने पिता की आज्ञानुसार यज्ञ में पहुँच कर एक ऊँचे आसन पर आसीन हुए। श्वेतकेतु को उच्च आसन पर आसीन हुआ देखकर चित्र ने प्रश्न किया-हे गौतम कुमार! इस लोक में कोई ऐसा आवरण युक्त स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रखोगे? या फिर उसमें भी कोई पृथक्-सर्वथा विलक्षण आवरण शून्य पद है, जिसको जान करके तुम उसी विशेष लोक में मुझे प्रतिष्ठित करोगे? ऐसा सुनकर श्वेतकेतु ने महर्षि चित्र से कहा-हे भगवन्! मैं यह सब नहीं जानता; मेरे पिता आचार्य हैं, अतः उन्हीं से इस प्रश्न को पूछूँगा। इस प्रकार से कहकर श्वेतकेतु, उद्दालक के पास जाकर बोले-हे पिता जी! महर्षि चित्र ने इस तरह से प्रश्न किया है; तो मैं इसके सन्दर्भ में उन्हें किस तरह से उत्तर दूँ? उद्दालक ने कहा-हे वत्स! मैं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। हम दोनों लोग महाभाग चित्र की यज्ञशाला में चलकर इस प्रश्न

का अध्ययन करके ही इस विद्या को प्राप्त करेंगे। जब दूसरे अन्य लोग हमें विद्या एवं धन आदि प्रदान करते हैं, तो फिर चित्र भी देंगे ही। अतः आओ, हम दोनों महर्षि चित्र के पास चलें। तदनन्तर वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथ में समिधा ग्रहण करके जिज्ञासु भाव से गर्ग के प्रपौत्र महर्षि चित्र के यहाँ गये और कहा- 'मैं विद्या प्राप्ति हेतु आपके पास आया हूँ' । चित्र ने कहा-हे गौतम! आप ब्राह्मणों में अति पूजनीय एवं ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं; क्योंकि मेरे जैसे लघु व्यक्ति के समीप आते हुए आपके मन में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं हुआ। अतः आप आइये, आपको निश्चय ही इस पूछे हुए प्रश्न का स्पष्ट रूप से बोध कराऊँगा॥१॥

स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्षे न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत्प्रत्याह तमतिसृजतेऽथ य एनं प्रत्याहतमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति स इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वान्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयाद्विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात्प्रसूतात्पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा संतद्विदेहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसर्तुरस्म्यार्तवोऽस्मि कोऽसि त्वमस्मीति तमतिसृजते॥ २॥

महर्षि चित्र ने कहा-हे ब्रह्मन् ! जो भी कोई लोग अग्निहोत्रादि सत्कार्यों का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे सभी जब इस लोक से प्रयाण करते हैं, तो वे चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्ग लोक में गमन करते हैं। पूर्व पक्ष में (पुण्य शेष रहने तक) वे प्राणों द्वारा वहाँ के भोग पदार्थों का सेवन करते हैं। दूसरे पक्ष में (अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त भूत पुण्यों के क्षीण होने पर) चन्द्र लोक प्राणियों को तृप्ति नहीं दे पाता।

निश्चय ही यह चन्द्रमा स्वर्ग लोक के द्वार के नाम से प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी सम्पत्ति से युक्त होने के कारण) उस स्वर्ग रूप चन्द्रमा का प्रत्याख्यान कर देता है (अर्थात् जहाँ से फिर से नीचे गिरना पड़े, ऐसा स्वर्ग मुझे नहीं चाहिए। ऐसा कहते हुए चन्द्रलोक का परित्याग कर देता है।), उस पुरुष को उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोक से भी ऊपर अविनाशी ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित करा देता है; लेकिन जो पुरुष स्वर्गीय सुख के प्रति ही आसक्त होने के कारण चन्द्रलोक को स्वीकार कर लेता है, उस कामनायुक्त स्वर्गवासी को उसके पुण्य भोग के समाप्त होने पर उसे सभी देव वर्षा के रूप में परिवर्तित करके उसी लोक में ही पुनः बरसा देते हैं। वर्षा के रूप में वह यहाँ आया हुआ कर्मफल का भोक्ता जीव स्वकृत पूर्व वासनानुसार कीट-पतंग या पक्षी, व्याघ्र, सिंह, मछली, साँप, बिच्छू, मनुष्य या अन्य कोई दूसरा जीव होकर अनुकूल शरीरों में स्वकर्म एवं विद्या (उपासना) के अनुसार ही यहाँ-वहाँ जन्म लेता है। इस प्रकार अपने पास में आए हुए शिष्य से दयालु एवं तत्त्वज्ञान धारण करने वाले गुरु को इस तरह से पूछना चाहिए-हे वत्स! तुम कौन हो? गुरु के इस तरह से पूछने पर शिष्य को इस तरह उत्तर देना चाहिए। हे देवताओ! जो पन्द्रह कलाओं से युक्त शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के कारणभूत श्रद्धा के माध्यम से प्रादुर्भूत, पितृलोक स्वरूप एवं विभिन्न प्रकार के भोगों को प्रदान करने में समर्थ हैं, उन चन्द्रमा के समीप से उत्पन्न होकर पुरुष रूप अग्नि में स्थापित हुआ, जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि एवं अन्न का परिणामभूत वीर्य है, उस वीर्य के ही रूप में केन्द्रित हुए मुझ कर्मफल के भोक्ता जीव को तुमने वीर्याधान करने वाले पुरुष में प्रेरित किया। तदनन्तर गर्भाधान करने वाले पुरुष (पिता) के द्वारा तुमने मुझको माता के गर्भ में धारण करवाया। माता के गर्भ में द्वादश-त्रयोदश आर्षमास (२३ दिन का एक

आर्षमास) तक रहकर जन्म लिया। इस कारण अब मुझे अमृतत्व की प्राप्ति के साथ साधनभूत ब्रह्मज्ञान हेतु अनेक ऋतुओं तक अक्षय रहने वाली दीर्घायु प्रदान करें। ब्रह्म के साक्षात्कार तक मेरे दीर्घ जीवन हेतु चिरस्थाई आयु की पुष्टि प्रदान करें, क्योंकि यह सब कुछ जानकर के मैं समस्त देवताओं से प्रार्थना करता हूँ। इसीलिए उसी सत्य से, उसी तप से, जिनका कि मैंने अभी उल्लेख किया है, मैं वही ऋतु हूँ अर्थात् संवत्सरादि रूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ-ऋतु अर्थात् रज-वीर्य के माध्यम से प्रादुर्भूत हुआ शरीर हूँ और यदि ऐसी बात नहीं है, तो आप ही कृपा करके बतायें कि मैं कौन हूँ? उस (शिष्य) के इस तरह से कहने पर संसार के भय से भयभीत हुए शिष्य को गुरु ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा भवसागर से पार करके बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर देता है॥ २॥

स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः सालज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणाऽऽसन्द्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यावयतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बावयवीश्चाप्सरसः। अम्बया नद्यस्तमित्थंविदा गच्छति तं ब्रह्मा हाभिधावत मम यशसा विरजां वा अयं नदीं प्रापन्न वा अयं जरयिष्यतीति॥ ३॥

वह विराट् ब्रह्म का उपासक पूर्व में कहे हुए देवयान मार्ग पर पहुँच कर सर्वप्रथम अग्निलोक में गमन करता है। तदनन्तर वायुलोक में प्रस्थान करता है, फिर वहाँ से वह सूर्यलोक में गमन करता है, इसके बाद वरुण लोक में आता है, फिर वह इन्द्रलोक में आता है, इन्द्रलोक से प्रजापति के लोक में गमन करता हुआ ब्रह्म लोक में आ जाता है। इस ख्याति प्राप्त ब्रह्मलोक के प्रवेश मार्ग पर सर्वप्रथम 'अर' नामक एक महान् प्रसिद्ध जलाशय है। (काम, क्रोध, लोभादि अरियों-शत्रुओं के द्वारा निर्मित होने से ही उस जलाशय को अर के नाम से जाना गया है।) उस अर नामक जलाशय से आगे मुहूर्ताभिमानी देवता का स्थान है, काम, क्रोध, लोभादि की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत करके ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनुकूल की हुई उपासना एवं यज्ञादि पुण्य को नष्ट करने से 'इष्टिहा' (जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचाते हैं) कहलाते हैं। इसके आगे 'विरजा' नाम वाली नदी विद्यमान है, इस नदी के दर्शन मात्र से ही वृद्धावस्था दूर हो जाती है। इस नदी से आगे 'इल्य' नामक वृक्ष स्थित है। 'इला' पृथ्वी का नाम है और उस (इला) का ही स्वरूप होने के कारण उस वृक्ष का नाम 'इल्य' पड़ा। उससे आगे कई अनेक देवों के द्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कूप, सरोवर एवं नदी आदि अलग-अलग जलाशयों से युक्त एक नगर है, उस नगर के एक ओर विरजा नामक नदी है एवं दूसरी ओर धनुष की प्रत्यञ्चा के आकार का (अर्धचन्द्राकार) एक परकोटा (चहारदीवारी) है। उसके आगे ब्रह्माजी का निवासभूत विशाल देवालय है, जो अपराजित' के नाम से प्रख्यात है। सूर्य के सदृश तेजस्वरूप होने के कारण वह कभी भी किसी के द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ एवं यज्ञरूप से उपलक्षित वायु तथा आकाश स्वरूप इन्द्र एवं प्रजापति उस ब्रह्म देवालय के द्वार-रक्षक के रूप में विद्यमान हैं।

वहाँ पर एक सभा मण्डप है, जिसका नाम 'विभुप्रमित' है। उस सभा मण्डप के मध्य भाग में स्थित एक वेदी (चबूतरा) है, जो 'विचक्षणा' के नाम से प्रख्यात है। (उस वेदी का प्रतिपादन बुद्धि एवं महत्तत्त्व आदि के नामों से भी होता है) वह अति विशेष लक्षणों से युक्त है। जो अपरिमित बल से सम्पन्न है, ऐसा वह 'अमितौजस्' नामक प्राण ही भगवान् ब्रह्मा जी का सिंहासन (पलंग) है। मानसी प्रकृति मन की कारणभूता होने से या फिर मन को आनन्द प्रदान करने वाली होने के कारण वह मानसी कहलाती है। उसके आभूषण

भी उसी के अनुरूप हैं। 'चाक्षुषी' के नाम से उसकी छायामूर्ति की ख्याति है। वह तेजोयुक्त नेत्रों की प्रकृति होने के कारण अति तेज स्वरूप है। उसके अलंकारादि भी अत्यन्त तेजोमय हैं। यह संसार इन चतुर्विध प्राणियों-जरायुज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्भिज्ज से परिपूर्ण है। समस्त विश्व, जड़-चेतन समुदाय भगवान् ब्रह्मा जी की वाटिका के पुष्प एवं उनके धौत (धोती) और उत्तरीय के रूप में युगल वस्त्र हैं। वहाँ की अप्सरायें (साधारण युवतियाँ) 'अम्बा' एवं 'अम्बावयवी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण विश्व को जन्म देने वाली श्रुतिरूपा होने से वह 'अम्बा' के नाम से प्रसिद्ध है और 'अम्ब' (अधिक) एवं 'अवयव' (अंश-न्यून) भाव से रहित बुद्धिरूपा होने के कारण उनका नाम 'अम्बावयवी' पड़ा । इसके अतिरिक्त वहाँ 'अम्बया' नाम वाली नदियाँ भी प्रवाहित होती हैं। अम्बक अर्थात् नेत्ररूप ब्रह्मज्ञान की ओर गमन करने के कारण उनकी 'अम्बया' संज्ञा है। ऐसे उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लोक को जो भी मनुष्य जानता है, वह उसी को प्राप्त होता है। उस पुरुष को जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोक से हमारे अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए लाता है, तब उस समय ब्रह्मा जी अपने सहायकों एवं अप्सराओं से कहते हैं—दौड़ो, उस महात्मा पुरुष का मेरे यश एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल स्वागत करो। मेरे लोक में लाने वाली उपासना आदि के कारण निश्चय ही यह (महान् पुरुष) उस विरजा नदी के पास तक आ गया है। निश्चय ही अब वह पुरुष वृद्धावस्था नहीं प्राप्त करेगा॥ ३॥

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फलहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्तास्तं ब्रह्मालंकारेणालंकुर्वन्ति स ब्रह्मालंकारेणालंकृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्माभिप्रैति स आगच्छत्यारं ह्रदं तं मनसाऽत्येति। तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति स आगच्छति मुहूर्तान्विहेष्टिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतं तद्यथा रथेन धावयन्रथचक्रे पर्यवेक्षत, एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते सर्वाणि च द्वंद्वानि स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैवाभिप्रैति॥ ४॥

(ब्रह्माजी का आदेश प्राप्त होने पर उस पुरुष के सम्मान के लिए) पाँच सौ अप्सरायें जाती हैं। उनमें से सौ अप्सराएँ तो हाथों में (मंगल द्रव्य, केशर, हल्दी एवं रोली आदि के) चूर्ण लिए रहती हैं। अन्य सौ के हाथों में तरह-तरह के दिव्य वस्त्र तथा आभूषण आदि होते हैं। अन्य सौ अप्सराएँ अपने हाथों में फल लिए होती हैं, अन्य सौ के हाथों में विभिन्न तरह के दिव्य अङ्गराग होते हैं एवं सौ अप्सराएँ अपने हाथों में भाँति-भाँति की मालाएँ उसके सम्मानार्थ लिए होती हैं। वे सभी अप्सराएँ उस महान् आत्मा को ब्रह्मोचित अलंकारों से सुसज्जित करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजी के योग्य आभूषणों को धारण करके ब्रह्माजी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर वह 'अर' नाम वाले सरोवर के समीप आकर उसे मन के द्वारा संकल्प मात्र से पार कर लेता है। उस जलाशय के समीप पहुँच कर अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। तत्पश्चात् वह ब्रह्मज्ञानी मुहूर्त्ताभिमानी 'इष्टिहा' नामक देवताओं के समीप में आता है; लेकिन वे विघ्नकारी देवता उसके पास से डरकर भाग जाते हैं। उसके बाद वह विरजा नदी के तट पर आ करके उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। वहाँ पर वह ब्रह्मज्ञानी अपने समस्त पुण्य एवं पापों को त्याग देता है। जो उसके कुटुम्बी प्रिय-परिजन आदि होते हैं, वे सभी लोग तो उसके पुण्य के भागीदार बनते हैं; किन्तु जो उस (दिव्यात्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं, उन्हें उसके द्वारा त्यागे हुए पापों का भागीदार बनना पड़ता है। (उस सन्दर्भ में यह दृष्टान्त इस प्रकार है)-रथ के द्वारा यात्रा करने वाला पुरुष दौड़ाते हुए रथ के दोनों चक्रों का भूमि से जो संयोग-वियोग होता है, वह उन चक्रों को देखते रहने पर भी आरोही को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष रात एवं

दिन को , पाप एवं पुण्य को तथा अन्य सभी तरह के द्वन्द्वों को देखता है, परन्तु द्रष्टा होने के कारण ही वह इनसे सम्बन्धरहित रहता है। इस कारण.वह पुण्य एवं पाप से रहित होता है। अतः ब्रह्मज्ञान के कारण ही वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति, स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसः प्रविशति, स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति। इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादपद्रवतः स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति विचक्षणामासन्दीं बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ वैरूपवैराजे अनूच्येते शाक्ररैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रज्ञया हि विपश्यति स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणस्तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथंतरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशव उपस्तरणमुद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबर्हणं तस्मिन्ब्रह्मास्ते तमित्थंवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्मा पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात्॥ ५॥

इसके पश्चात् वह (पुरुष) 'इल्य' नामक वृक्ष के पास गमन करता है। उस समय उसकी घ्राणेन्द्रिय में ब्रह्म-गन्ध का प्रवेश होता है। तदनन्तर वह 'सालज्य' नामक नगर के पास आता है, वहाँ उसकी स्वादेन्द्रिय में उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस की अनुभूति होती है, जिसका कि उसे इसके पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ होता। इसके बाद वह 'अपराजित' नाम वाले ब्रह्म मन्दिर के पास में आता है। वहाँ पर उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश होता है। फिर वह द्वार रक्षक इन्द्र एवं प्रजापति के समीप में गमन करता है, प्रजापति उसके सामने से रास्ता छोड़कर अलग हट जाते हैं। इसके अनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा मण्डप में पहुँचता है, वहाँ पर उसके अन्तःकरण में ब्रह्मयश प्रविष्ट करता है, फिर वह 'विचक्षणा' नाम से युक्त वेदी के समीप में आता है। 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' ये दो साम उस पलंग के दोनों अग्रभाग के पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पृष्ठ भाग के पाये हैं। 'वैरूप' तथा 'वैराज' नाम से युक्त ये साम उसके दक्षिणी एवं उत्तरी पार्श्व हैं। 'शाक्कर' एवं 'रैवत' नामक साम उसके पूर्वी और पश्चिमी पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धि के माध्यम से विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। इसके बाद वह 'अमितौजस्' नामक पलंग अथवा सिंहासन के समीप में आता है, वह पर्यङ्क (पलंग) प्राणरूप ही है, भूत एवं भविष्यत् काल उसके अग्रभाग के पाये हैं, श्रीदेवी या भूदेवी ये दोनों उस सिंहासन के पृष्ठभाग के पाये हैं। उसके उत्तर एवं दक्षिण क्षेत्र में जो 'अनूच्य' नामक दीर्घ खट्वाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नाम से युक्त साम हैं और पूर्व एवं पश्चिम क्षेत्र में जो छोटे खट्वाङ्ग हैं और जिन पर सिर एवं पैर रखे जाते हैं, वे 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। पूर्व से पश्चिम दीर्घाकार के रूप में लगी हुई पाटियाँ ऋक् एवं साम की प्रतीक हैं। दक्षिण एवं उत्तर की ओर जो आड़ी तिरछी लगी हुई पाटियाँ हैं, स्वयं यजुर्वेद स्वरूप ही हैं। चन्द्रमा की कोमल एवं शीतल रश्मियाँ ही उस पर्यङ्क (पलंग) के मुलायम गद्दे के रूप में हैं। उद्गीथ ही उस पर बिछी हुई उपश्री अर्थात् श्वेत चादर है। श्रीलक्ष्मी जी, उस पलंग पर तकिया के रूप में हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्क पर भगवान् ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं। इस श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान को इस प्रकार से भली-भाँति जानने वाला ब्रह्मज्ञानी उस पलंग पर सर्वप्रथम पैर रखकर आसीन होता है।

तदनन्तर ब्रह्माजी उस ब्रह्मज्ञानी से प्रश्न करते हैं-तुम कौन हो? उन भगवान् ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर उसे इस प्रकार से देना चाहिए॥ ५॥

ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशाद्योनेः संभूतो भार्या एतत्संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्य भूतस्य भूतस्यात्मा त्वमात्मासि यस्त्वमसि सोऽहमस्मीति तमाह कोऽहमस्मीति सत्यमिति ब्रूयात्किं तद्यत्सत्यमिति यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्त्यं तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियते सत्यमित्येतावदिदं सर्वमिदं सर्वमसि। इत्येवैनं तदाह। तदेतदृक्श्लोकेनाभ्युक्तम् यजूदरः सामशिरा आसावृङ्मूर्तिरव्ययः। स ब्रह्मेति स विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महानिति। तमाह केन मे पौंस्यानि नामान्याप्नोतीति प्राणेनेति ब्रूयात्। केन स्त्रीनामानीति वाचेति केन नपुंसकानीति मनसेति केन गन्धानिति प्राणेनेत्येव ब्रूयात्। केन रूपाणीति चक्षुषेति केन शब्दानिति श्रोत्रेणेति केनान्नरसानिति जिह्वयेति केन कर्माणीति हस्ताभ्यामिति केन सुखदुःखे इति शरीरेणेति केनानन्दं रतिं प्रजातिमित्युपस्थेनेति। केनेत्या इति पादाभ्यामिति केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति प्रज्ञयेति ब्रूयात्तमाह। आपो वै खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्यष्टिस्तां जितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद य एवं वेद॥ ६॥

मैं स्वयं ही वसन्तादि ऋतु स्वरूप हूँ, ऋतु से सम्बन्धित हूँ। मैं कारणभूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयं प्रकाश रूप परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ हूँ। जो भूत (अतीत, यथार्थ कारण, जड़-चेतन स्वरूप चतुर्विध सर्ग एवं पञ्च महाभूत स्वरूप) है, उस संवत्सर का तेज मैं स्वयं हूँ। मैं स्वयं आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, हे भगवन् ! जो आप हैं, वही मैं हूँ। उस ब्रह्मवेत्ता के इस तरह से उत्तर देने पर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं कि मैं कौन हूँ? इसके उत्तर में वह इस प्रकार कहे-'आप सत्य हैं'। जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है? ऐसा प्रश्न ब्रह्माजी के द्वारा पूछने पर वह इस प्रकार उत्तर दे-जो समस्त देवताओं एवं प्राणों से भी सर्वथा भिन्न एवं विशेष लक्षणों से युक्त हो, वह 'सत्' है और जो देवता प्राणस्वरूप है, वह 'त्य' है। वाणी के द्वारा जिस तत्त्व को 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। यही सभी कुछ है। आप ही यह सभी कुछ हैं, अतः आप ही सत्य हैं। यही तथ्य ऋग्वेद के मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-'जिसका उदर यजुर्वेद है, मस्तक सामवेद है तथा सम्पूर्ण शरीर ऋग्वेद है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्म' के नाम से विख्यात है, वह जानने योग्य है। वह ब्रह्ममय-ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।' इसके बाद पुनः ब्रह्माजी उस उपासक से पूछते हैं- तुम मेरे पुरुषवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? वह उत्तर दे-प्राण से । (प्र०)- स्त्रीवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) वाणी से। (प्र०) नपुंसक वाची नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) मन से। (प्र०) गन्ध का अनुभव किससे करते हो? (उ०) प्राण से -घ्राणेन्द्रिय से। (प्र०) रूपों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) नेत्र से। (प्र०) शब्दों को किससे सुनते हो? (उ०) कानों से (प्र०) अन्न का आस्वादन किससे करते हो ? (उ०) जिह्वा से (प्र०) कर्म किससे करते हो? (उ०) हाथों से। (प्र०) सुख-दुःखों का अनुभव किससे करते हो? (उ०) शरीर से। (प्र०) रति का आनन्द एवं प्रजोत्पत्ति का सुख किससे उठाते हो? (उ०) उपस्थ से। (प्र०) गमन क्रिया किससे करते हो? (उ०) दोनो पैरों से। (प्र०) बुद्धि-वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) प्रज्ञा से-ऐसा कहे। तब ब्रह्मा उससे कहते हैं-'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं, अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।' वह ब्रह्मा की जो जिति (विजय करने की शक्ति) तथा व्यष्टि (सर्वव्यापकता) शक्ति है, वह उपासक इन दोनों शक्तियों को भी प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ब्रह्मा की तरह शक्ति-सम्पन्न हो जाता है॥ ६॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति। तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति। य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति। एष धर्मो याचितो भवति। अन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥ १ ॥

(प्राण तत्त्व की उपासना) सुप्रसिद्ध 'कुषीतक' ऋषि के सुपुत्र ऋषि कौषीतकि कहते हैं कि यह प्राण ही ब्रह्म है। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म को यहाँ पर राजा के स्वरूप में कल्पित किया गया है। उन (प्राण) का मन ही दूत है, वाणी परोसने वाली उनकी रानी है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है और कर्णेन्द्रिय संदेश सुनाने वाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणरूप ब्रह्म को बिना माँगे ही ये सभी इन्द्रियाभिमानी देवगण भेंट प्रदान करते हैं। (प्राण के संसर्ग से मन एवं इन्द्रियों की क्रियाएँ सहज ही होने लगती हैं, यह प्रक्रिया स्वचालित होने से इसे बिना माँगे दी जाने वाली भेंट कहा गया है।) इस तरह से जो इस रहस्य का ज्ञाता है, उसको बिना याचना किये ही समस्त चराचर प्राणी भेंट समर्पित करते हैं। उस श्रेष्ठ प्राण के उपासक के लिए यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसी से कभी कुछ भी न माँगे। ठीक वैसे ही, जैसे कोई भिक्षुक गाँव में भीख माँगने पर जब कुछ भी नहीं पाता, तो निराश होकर बैठा रहता है एवं कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि अब से इस गाँव के लोगों के द्वारा देने पर भी दान ग्रहण नहीं करूँगा। वह भिक्षु जिस दृढ़ता से अपनी बात पर आरूढ़ रहता है, वैसे ही प्राण की उपासना करने वाले को अपने न माँगने के व्रत पर दृढ़ रहना चाहिए। याचक धर्म के साथ दीनता का भाव जुड़ा रहता है। याचना एवं दैन्य प्रदर्शन से सदा दूर रहने वाले साधक को लोग ऐसे ही आमन्त्रण देते रहते हैं- 'आओ' हम तुम्हें भिक्षा प्रदान करेंगे॥ १ ॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्ग्यस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्परस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्रं परस्तान्मन आरुन्धे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इत्येष धर्मो याचितो भवत्यन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥२॥

'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म के लिए वाणी से परे नेत्र-इन्द्रिय है, जो वाक् इन्द्रिय को सभी ओर से व्याप्त करके विद्यमान है। चक्षु से परे श्रोत्रेन्द्रिय है,उसने नेत्र को सब ओर से व्याप्त कर रखा है। श्रवणेन्द्रिय से परे मन है, जो कि श्रवणेन्द्रिय को सब ओर से व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मन के सावधान रहने पर ही यह श्रोत्रेन्द्रिय श्रवण करने में समर्थ हो सकती है। मन से परे प्राण है, जो मन को सभी ओर से व्याप्त करके स्थित है। प्राण ही मन को बाँधकर रखने वाला है, ऐसी बात प्रसिद्ध है। प्राण के न रहने पर तो मन भी नहीं रह सकता, इसलिए सब की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं आन्तरिक आत्मा होने से प्राण का ब्रह्म होना उचित ही है। उस प्राण स्वरूप परमात्मा को ये सभी देवगण उसके न माँगने

पर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी तरह से जो उसे ऐसा जानता है, उस साधक को समस्त जीव बिना याचना के ही पृथक्-पृथक् उपहार प्रदान करते हैं। उसका यह अत्यन्त दृढ़ निश्चय है कि वह किसी से कभी भी याचना न करे। इस सन्दर्भ में वही पूर्वोक्त उदाहरण है॥ २॥

अथात एकधनावरोधनं यदेकधनमभिध्यायात्पौर्णमास्यां वाऽमावास्यायां वा शुद्धपक्षे वा पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्योत्पूय दक्षिणं जान्वाच्य स्त्रुवेण वा चमसेन वा कंसेन वैता आज्याहुतीर्जुहोति वाङ्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्राणो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। चक्षुर्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। श्रोत्रं नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। मनो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्रज्ञा नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्यार्थं ब्रुवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्लभते हैव॥ ३॥

अब एकमात्र धन (प्राण) के निरोध की बात कही जाती है। यदि एक मात्र धन (प्राण) का ध्यान करे, तो पूर्णिमा अथवा अमावस्या को या फिर शुक्ल अथवा कृष्ण पक्ष की किसी भी शुभ-तिथि को पुण्य (श्रेष्ठ) नक्षत्र में अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन संस्कार, कुशों का बिछाना, अभिमन्त्रित जल से अग्निवेदी आदि का अभिषेक एवं अग्नि पर पात्र में रखे हुए घृत का शोधन करके दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्थिर करके स्रुवा से, चमस से या काँसे की करछुल से (मूल संस्कृत में दिये गये वाङ्नाम देवता ..... स्वाहा आदि मन्त्रों द्वारा) विधिवत् आहुति समर्पित करे।

मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं- ॐ वाङ्नाम देवतावरोधिनी..... अवरुन्धां तस्यै स्वाहा- 'वाणी' नाम से प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी साधक की कामना पूर्ति करने वाली है। वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित अर्थ की सिद्धि कराये; उसके लिए यह घृताहुति सादर समर्पित है। प्राण देवता अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं, वे मुझ प्राणोपासक को धन (प्राण) की प्राप्ति कराएँ। इसके लिए यह आहुति समर्पित है। चक्षु नाम से युक्त देवी कामनापूर्ति में सहायक है, वह देवी मुझ प्राणोपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) प्राप्त कराए। यह घृताहुति उसी के लिए समर्पित है। श्रोत्र नाम से युक्त देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राणस्वरूप ब्रह्म के साधक को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राणों) की प्राप्ति कराये, इसके निमित्त यह घृताहुति समर्पित है। 'मन' नाम वाली देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राण) की प्राप्ति कराये, यह घृताहुति उसके निमित्त समर्पित है। 'प्रज्ञा' नामक देवी इच्छित फल देने वाली है। वह मुझ प्राणदेव के उपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति कराये। यह आहुति उसके लिए ही समर्पित है। इस तरह से आहुतियाँ देने के बाद धूम की गन्ध को ग्रहण करके हवन से बचे हुए घृत से अपने अंगों में लेपन करके मौन भाव से धन-स्वामी के समीप में गमन करे और इच्छित अर्थ के सम्बन्ध में कहे कि इतने धन की मुझे विशेष आवश्यकता है। अतः आपके यहाँ प्राप्त हो जाना चाहिए अथवा यदि धनिक कहीं दूर है, तो किसी दूत के द्वारा उक्त संदेश कहलाने के लिए उसके पास भेज देना चाहिए। इस प्रकार के कार्य द्वारा अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति हो जाती है॥ ३॥

अथातो दैवः स्मरो यस्य प्रियो बुभूषेद्यस्यै वा एषां वै तेषामेवैकस्मिन्पर्वण्य-ग्निमुपसमाधायैतयैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वा संभाषमाणस्तिष्ठेत्प्रियो हैव भवति स्मरन्ति हैवास्य॥ ४॥

अब इसके पश्चात् वाणी आदि देवों के द्वारा सिद्ध होने वाले अभीष्ट की पूर्ति का प्रकार बताया गया है। यदि उपासक किसी का आत्मीय बनने की इच्छा करे, तो उसे किसी का भी प्रिय होने से पूर्व 'वाक्' आदि देवों का आत्मीय-प्रिय बनना चाहिए। किसी एक शुभ पर्व के दिन पूर्वोक्त नियमानुसार शुभ तिथि एवं शुभ मुहूर्त में पहले कहे हुए के अनुसार ही अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन (संस्कार करना), कुशों का बिछाना, वेदी आदि का अभिषेक, घृत का उत्पवन (शोधन) आदि करके 'वाचं ते मयि..... स्वाहा' आदि मंत्रों से घृताहुतियाँ समर्पित करे। मंत्रों के अर्थ इस प्रकार हैं-मैं तुम्हारी वागिन्द्रिय का अपने में हवन करता हूँ, मेरा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाये, इस भाव से यह आहुति समर्पित है। मैं अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए आपके प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन आदि इन्द्रियों तथा आपकी प्रज्ञा को भी अपने में हवन करता हूँ। इस भाव से ये विशेष घृताहुतियाँ आपके लिए समर्पित हैं।

इन आहुतियों के पश्चात् होम-धूम की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर होमावशिष्ट घृत का अपने अंगों पर लेपन करके मौन रहते हुए अमुक व्यक्ति के पास जाए अथवा ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे कि जहाँ वायु के सहयोग से उसके शब्द इच्छित व्यक्ति के कानों में सुनाई पड़ें, तो निश्चय ही वह उस (व्यक्ति) का प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि उस जगह से हट जाने पर वहाँ के निवासी उसको सदैव स्मरण करते रहते हैं॥४॥

अथातः सांयमनं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एते अनन्ते अमृताहुती जाग्रच्च स्वपंश्च संततमव्यवच्छिन्नं जुहोत्यथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुः॥ ५॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र-

अब दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन के द्वारा किया गया अनुष्ठान, 'प्रातर्दन' नाम से प्रख्यात और संयम से पूर्ण होने से 'सांयमन' कहलाने वाले अग्निहोत्र के सम्बन्ध में बतलाते हैं। निश्चय ही व्यक्ति मुख से जब तक कुछ बोलता रहता है, तब तक वह पूर्ण रूप से श्वास नहीं ग्रहण कर पाता । उस समय वह प्राण का वाणीरूप अग्नि में हवन कर देता है। ये वाणी एवं प्राणरूप दो आहुतियाँ कभी अन्त न होने वाली तथा अमृत स्वरूप हैं। जाग्रत् एवं स्वप्नकाल में भी प्राणी सदैव अविच्छिन्न रूप से इन आहुतियों को होमता रहता है। इसके अतिरिक्त वाणी एवं प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो अन्य दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्म द्वारा ही गतिमान् रहती हैं। यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्य को जानने वाले प्राचीनकालीन विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्र का अनुष्ठान सम्पन्न नहीं करते थे॥ ५॥

[यहाँ ऋषि यह स्पष्ट कर रहे हैं कि पदार्थ परक अग्निहोत्र के साथ भाव-संयोग पूर्वक वाणी और प्राण की अमृत आहुतियाँ भी समर्पित की जानी चाहिए, तभी उनका आध्यात्मिक प्रभाव उभरता है। इसके लिए साधकों को वाक् और प्राण की साधना विशेष रूप से करनी पड़ती है।]

उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह शुष्कभृङ्गारस्तदृगित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्यायाभ्यर्चन्ते तद्यजुरित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय युज्यन्ते तत्सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय संनमन्ते तच्छ्रीरित्युपासीत तद्यश इत्युपासीत तत्तेज इत्युपासीत तद्यथैतच्छास्त्राणां श्रीमत्तमं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तमेतमैष्टकं कर्ममयमात्मानमध्वर्युः संस्करोति तस्मिन्यजुर्मयं प्रवयति यजुर्मय ऋङ्मयं होता ऋङ्मये साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयीविद्याया आत्मैष उ एवास्यात्मा एतदात्मा भवति य एवं वेद॥ ६ ॥

सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार भी 'उक्थ' अर्थात् प्राण ही ब्रह्म है-ऐसा कहते हैं। उक्थरूपी प्राण को ऋक् मानकर बुद्धिपूर्वक उपासना करे। जो उक्थ में ऋक् को जान लेता है, उस ज्ञानी की समस्त प्राणी श्रेष्ठ बनने के लिए प्रार्थना करते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'यजुर्वेद' है, इसकी श्रेष्ठ बुद्धि से उपासना करे। इससे समस्त प्राणी श्रेष्ठता के लिए उस ज्ञानी के साथ सहयोग करते हैं। जिस साधक की उक्थ में साम बुद्धि हो, उसके सामने समस्त श्रेष्ठ-काम्य प्राणी सिर झुकाते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'श्री' है। उसकी श्री भाव से उपासना की जाती है। वह उक्थ 'यश' है, इस भाव से उपासना करनी चाहिए। वह 'तेजरूप' है, इस भावना से उपासना करे। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है-जिस प्रकार अध्यात्म शास्त्र सभी शास्त्रों में अत्यन्त श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी एवं परम तेजोमय होता है, वैसे ही जो इस तरह से उस उक्थरूप प्राण को जानता है, वह मनीषी सम्पूर्ण प्राणियों में सर्वाधिक श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजोमय होता है। इस उक्थरूप प्राण को एवं ईंटों के द्वारा निर्मित वेदी पर संचित कर्ममय अग्नि को भी अभिन्न अनुभव करते हुए अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार सम्पन्न करता है। उस प्राण में ही वह यजुर्वेद साध्य कार्यों का विस्तार करता है। इस वेदरूपी त्रयी विद्या की आत्मा-यह अध्वर्यु रूप प्राण है। प्राण को ही इस विद्या की आत्मा कहा गया है। जो प्राणी इस प्राण को इस प्रकार से जानता है, वह स्वयं भी प्राण के सदृश हो जाता है॥ ६ ॥

अथातः सर्वजितः कौषीतकेस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य त्रिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीत्येतयैवावृता मध्ये सन्तमुद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीत्येतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धीति। यदहोरात्राभ्यां पापं करोति सं तद्वृङ्क्ते॥ ७॥

(विविध उपासनाओं का वर्णन-) इसके पश्चात् अब कौषीतकि ऋषि के द्वारा अनुभव में लायी हुई तीन बार सम्पन्न की जाने वाली उपासना पद्धति कही जाती है। यज्ञोपवीत को सव्य भाव से बायें कन्धे पर रखकर आचमन करे तदनन्तर जल पात्र को तीन बार शुद्ध जल से भरकर उदय होते हुए सूर्य को अर्घ्य प्रदान करे। (अर्घ्य प्रदान करते समय इस मन्त्र का उच्चारण करे-) 'ॐ वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि' अर्थात् 'संसार को तृणवत् त्याग देने से तुम वर्ग कहलाते हो, मेरे पापों को मुझसे दूर करो।' इसी तरह मध्याह्नकाल में भी भगवान् भास्कर का उपस्थान करे। (उस समय इस मंत्र का उच्चारण करे) 'ॐ उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम उद्वर्ग कहे जाते हो, मेरे पापों को नष्ट करो।' इसी तरह से सायंकाल में अस्त होते हुए

भगवान् सूर्य का निम्न मंत्र से उपस्थान करे- 'ॐ संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम संवर्ग कहलाते हो, अतः मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना का परिणाम यह है कि मनुष्य दिन एवं रात्रि में होने वाले समस्त पापों का पूर्णतः परित्याग करने में समर्थ हो जाता है॥ ७॥

अथ मासि मास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता हरिततृणाभ्यां वाक्प्रत्यस्यति यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्येशाने माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति नु जातपुत्रस्याथाजातपुत्रस्याप्यायस्व समेतु ते सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा यमादित्या अंशुमाप्याययन्तीत्येतास्तिस्त्र ऋचो जपित्वा माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययिष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ८॥

(अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं) हर महीने की अमावस्या को, जब सूर्य के पश्चिम भाग में स्थित सुषुम्ना नामक रश्मि में चन्द्रमा का स्थित होना स्पष्ट परिलक्षित हो, उस समय उपर्युक्त विधि से ही उपस्थान (पूजन) करे। इसकी विशेषता मात्र इतनी ही है कि अर्घ्यपात्र में दो हरी दूर्वा के अंकुर भी रखे एवं उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमा के प्रति "यत्ते सुसीमं हृदयमधि.....पौत्रमघं रुदम्" मंत्र से वाणी का प्रयोग करें। (इस मंत्र का भाव यह है-) 'हे सोममंडल की अधिष्ठात्री देवि! अतिसुन्दर भावना से युक्त आपका हृदय (हृदय में स्थित आनन्दमय स्वरूप) चन्द्रमण्डल में विद्यमान है, उसके द्वारा आप अमृतत्व पद पर भी अधिकार रखने वाली हैं। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें, जिससे कि कभी पुत्र के शोक से मुझे व्यथित होकर रोना न पड़े'। इस तरह से उपासना करने वाला यदि पुत्र को प्राप्त कर चुका हो, तो उसका पुत्र उसके मरने से पूर्व मृत्यु को नहीं प्राप्त होगा। यदि उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ हो, तो वह भी पूर्व की ही तरह सभी कार्य सम्पन्न करके दो हरी दूर्वा के अंकुर रख करके नीचे लिखे तीन मंत्रों का जप करे-

(क) 'आप्यायस्व समेतु.....संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः'।

(ख) 'आप्यायमानो.....धिष्वा' (ग) 'यमादित्या ..... भुवनस्य गोपाः'। इन तीनों ऋचाओं का भावार्थ इस प्रकार है-(क) हे स्त्रीरूपी सोम! तुम पुरुष रूपी सूर्य के प्रकाश से विकास को प्राप्त हो। पुरुष के प्राकट्य का कारणभूत जो वीर्य अर्थात् अग्नि सम्बन्धी तेज है, वह तुम में स्थित हो। तुम सभी ओर से अन्न की प्राप्ति में सहायक बनो। (ख) हे सोम! तुम सौम्य गुणों से युक्त हो। तुम्हारा दिव्य रस सूर्य के तेज को प्राप्त करके पुरुष मात्र के लिए अत्यन्त हितकारी हो जाता है। इस दिव्य रस का सेवन करने वाले पुरुषों को पुष्टि दे करके उनके सभी शत्रुओं का पराभव कराने में भी आप पूर्ण सक्षम हैं। वे दुग्ध एवं जल, अन्न से निर्वाह करने वाले निरामिषभोजी जीवों को सुगमतापूर्वक मिलते रहें। आग्नेय तेज से प्रसन्नता को प्राप्त करते हुए तुम अमृतत्व की प्राप्ति में सहयोगी बनो तथा स्वयं ही स्वर्गलोक में अनुपम यश को स्थिर करो।

(ग) द्वादश आदित्य रूपी पुरुष जिस स्त्री रूपी-प्रकृतिमय सोम को अपने दिव्य तेज से आनन्दित करते हैं एवं स्वयं पुष्ट रहते हुए अक्षय बल से सम्पन्न, त्रिलोक को संरक्षण देते हैं, ऐसे राजा वरुण और बृहस्पति हम सभी को उस सोम रूपी अंशु (किरण) से आनन्द एवं शक्ति प्रदान करें।

(घ) उपर्युक्त तीन ऋचाओं के जप के पश्चात् चन्द्रमा के समक्ष अपना दाहिना हाथ उठाये तथा नीचे लिखे मंत्र का उच्चारण करे-"मास्माकं प्राणेन.....आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति।" मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम ! तुम हमारे प्राण, संतान एवं पशुओं से स्वयं अपनी पुष्टि एवं तुष्टि न करो; वरन् जो हमसे वैर-भाव रखते हैं तथा जिससे हम द्वेष-भाव रखते हैं, उनके प्राण, संतान और पशुओं से अपनी पुष्टि एवं तुष्टि

अर्जित करो। इस प्रकार मैं इन मंत्र के अधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुवर्तन करता हूँ अर्थात् हे सोम! मैं तुम्हारी ही गति का अनुगमन करता हूँ। इस तरह ऋचा-पाठ से अपनी दाहिनी भुजा का अन्वावर्तन करे अर्थात् बार-बार घुमाये और अन्त में हाथ को नीचे कर ले॥ ८॥

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता सोमो राजाऽसि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुर्वग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ९॥

(अब यहाँ पर एक अन्य प्रकार की उपासना बतलायी जाती है-) पूर्णिमा के दिन सायंकाल में जब पूर्व दिशा में चन्द्रदेव का दर्शन होने लगे, तब उस समय पूर्व मन्त्र में बताई गई रीति के द्वारा उन चन्द्रदेव को अर्घ्य समर्पित करे। उपस्थान के समय निम्नांकित मंत्र का पाठ करना चाहिए। ''सोमो राजाऽसि विचक्षणः .....आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त'' इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम! संसार-प्रकृतिरूपा उमा के साथ रहने वाले तुम सोम नाम वाले राजा हो। तुम सभी लौकिक एवं वैदिक कार्यों में प्रवीण हो। तुम पाँच मुखों से युक्त प्रजापति हो। प्रजापति के रूप में सम्पूर्ण प्रजा का पालन करते हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है। उस मुख के द्वारा तुम क्षत्रियों का भक्षण अर्थात् दमन करते हो। उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न को खाने एवं पचाने की सामर्थ्य प्रदान करो। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुख से तुम वैश्यों का भक्षण अर्थात् उन पर शासन करते हो, उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न का भक्षण करने एवं पचाने की शक्ति से सम्पन्न बनाओ। श्येन (बाज़) भी तुम्हारा एक मुख है, तुम उस (बाज़) मुख से पक्षियों का दमन करते हो, उस मुख से तुम मुझे अन्न का भोगने वाला बनाओ। अग्नि भी तुम्हारा एक मुख है, उस मुख के द्वारा तुम इस लोक का दमन करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ । पाँचवाँ मुख तो तुम में ही है, उस मुख के द्वारा तुम समस्त भूत-प्राणियों का संहार करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ। तुम मेरे प्राण, संतान एवं पशुओं से हमें कमजोर न करो, वरन् जो हमसे द्वेष-भाव रखते हों तथा जिससे हम द्वेष रखते हैं, उसे संतान, प्राण और पशुओं से नष्ट करो। मैं मन्त्राधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ। इस प्रकार से उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते हुए दाहिनी भुजा को बारम्बार घुमाये तथा बाद में भुजा नीचे कर ले॥ ९॥''

अथ संवेश्यञ्जायायै हृदयमभिमृशेद्यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति॥ १०॥

इस प्रकार से सोम की प्रार्थना करने के बाद (गर्भाधान के लिए) पत्नी के पास में बैठने से पहले उसके हृदय का स्पर्श करे। उस समय नीचे लिखे मन्त्र का पाठ करे-(मन्त्र इस प्रकार है-) ''यत्ते सुसीमे..... ..पौत्रमघं रुदम्।'' इस मन्त्र का भाव इस प्रकार है-हे सुन्दर सीमन्त (माँग) वाली सुन्दरी! तुम सोम रूप वाली हो। तुम्हारा हृदय प्रजा (संतति) का पालक है। उसके अन्दर जो सोम मण्डल की तरह अमृत-राशि

(दुग्ध) निहित है, उसे मैं जानता हूँ। अपने को मैं उसका पूर्ण ज्ञाता मानता हूँ। इस सत्य के प्रभाव से मैं कभी पुत्र से सम्बन्धित शोक से न रोऊँ अर्थात् मुझे पुत्र का शोक कभी भी न झेलना पड़े। इस तरह की प्रार्थना करने से साधक के संतान की मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

अथ प्रोष्यायन्पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशेत्। अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा त्वं पुत्र माविथ स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति। अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव तेजो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्ट्यै तेन त्वा परिगृह्णाम्यसाविति नामास्य गृह्णात्यथास्य दक्षिणे कर्णे जपत्यस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्नितीन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहीति सव्ये मा च्छित्था मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्राम्यसाविति त्रिर्मूर्धानमवजिघ्रेद्गवां त्वा हिंकारेणाभि हिं करोमीति त्रिर्मूर्धानमभि हिं कुर्यात्॥ ११॥

(इसके पश्चात् अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं-) परदेश में रहकर, वहाँ से वापस आया हुआ व्यक्ति अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र को पढ़े 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि.....शरदः शतम् असौ।' (मंत्रार्थ-) 'अमुक नाम से युक्त हे पुत्र! तुम नरक से पार करने वाले हो। तुम मेरे अंग-प्रत्यङ्ग से उत्पन्न हुए हो। मेरे हृदय से तुम्हारा प्राकट्य हुआ है। तुम स्वयं मेरे ही आत्म स्वरूप हो। तुमने ही हमारी (हमारे वंश की) रक्षा की है। हे पुत्र! तुम शतायु हो'। यहाँ 'असौ' की जगह पर पुत्र के नाम का उच्चारण करना चाहिए और साथ ही नामोच्चारण के समय निम्न मंत्र का पाठ करना चाहिए ''अश्मा भव..... शतम् असौ'' (इसका भावार्थ इस प्रकार है-) '' हे वत्स! तुम पत्थर, कुठार एवं बिछा हुआ सुवर्ण बनो अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थर की तरह सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग बने। तुम कुठार के सदृश शत्रुओं का दमन करने वाले तथा सुवर्ण राशि की तरह सभी के प्रिय बनो। समस्त अंग-अवयवों का सारभूत, संसार-वृक्ष का बीजरूप जो दिव्य तेज है, हे पुत्र! वह तेज तुम्हीं हो, तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो'' यहाँ पर फिर से 'असौ' के स्थान पर पुत्र का नाम लेना चाहिए और साथ ही निम्न मंत्र का पाठ भी करना चाहिए-'येन प्रजापतिः ....परिगृह्णामि असौ।' (प्रस्तुत मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-) ''हे पुत्र! प्रजापति ब्रह्मा जी अपनी सृष्टि को नष्ट न होने देने के लिए उसे जिस तेज से युक्त करके अनुगृहीत करते हैं, उसी तेज से तुम भी युक्त हो। हे पुत्र! मैं तुम्हें सभी तरफ से स्वीकार करता हूँ।'' तत्पश्चात् यहाँ भी 'असौ' के स्थान पर पुत्र का ही नाम उच्चारण करे तथा पुत्र के दाहिने कान में नीचे लिखे मंत्र का पाठ करे-'अस्मै प्रयन्धि.....द्रविणानि धेहि।' (मन्त्रार्थ इस प्रकार है-) हे मघवन्! आप सरल भाव का आश्रय लेकर इस पुत्र को संरक्षण प्रदान करें। पुनः इसी मंत्र को बायें कान में जपे। तत्पश्चात् पुत्र के मस्तक को सूँघे तथा इस मन्त्र का पाठ करे- 'मा च्छित्था मा .....मूर्धानमवजिघ्रामि असौ। (इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-) हे पुत्र! संतान परम्परा का उच्छेद न करना। मन, वाणी एवं शरीर से तुम्हें कभी कष्ट न हो। तुम सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नाम से प्रख्यात पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तक को सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ पर असौ के स्थान पर पिता को अपना नाम लेना चाहिए।) इस मन्त्र पाठ के बाद तीन बार पुत्र का मस्तक सूँघे, तत्पश्चात् निम्न मंत्र को पढ़कर मस्तक के सभी तरफ तीन बार हिंकार (हिं शब्द का उच्चारण) करे। 'गवां त्वा' ..... हिंकरोमि।' हे वत्स! गौएँ जिस तरह से अपने बछड़े को बुलाने के लिए रँभाती हैं, वैसे ही प्रेमपूर्वक मैं भी तुम्हारे लिए हिंकार करता हूँ अर्थात् हिंकार द्वारा तुम्हें बुलाता हूँ॥ ११॥

अथातो दैवः परिमर एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चन्द्रमा दृश्यते। अथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य विद्युतमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्युद्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविश्य वायौ मृता न मृच्छन्ते तस्मादेव उ पुनरुदीरत इत्यधिदैवत-मथाध्यात्मम्॥ १२॥

(दैव 'परिमर' के रूप में प्राण की उपासना-) अब इसके अनन्तर देवों से सम्बन्धित 'परिमर' का वर्णन करते हैं। (अग्नि एवं वाणी आदि देवता हैं, ये सभी क्षीण अथवा मृत होकर महाप्राण प्रवाह में ही विलीन होते हैं। इस ब्रह्मरूप प्राण को ही यहाँ पर 'परिमर' कहा गया है।) यहाँ यह जो (प्रत्यक्ष रूप में अग्नि) प्रज्वलित है, इस रूप में स्वयं ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब अग्नि नहीं जलती है, तब उस मृत अर्थात् बुझी हुई अग्नि का तेज सूर्य में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार सूर्य जब दृष्टिगोचर नहीं होता, तब उसका तेज वायु और प्राण में विलीन हो जाता है। यह जो चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है, निश्चय ही इस रूप में ब्रह्म ही दीप्तिमान् हो रहा है। चन्द्र (जब वह दृष्टिगोचर नहीं होता है) का तेज भी प्राण एवं वायु को प्राप्त हो जाता है। यह जो विद्युत् कौंधती है, निश्चय ही उस रूप में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं कौंधती है, तब मानो यह मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। उस समय विद्युत् का तेज, वायु एवं प्राण को प्राप्त हो जाता है। वे सभी प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा एवं विद्युत्-स्वरूप सभी देवगण प्राण में प्रविष्ट होकर स्थिर रहते हैं। वायु अर्थात् आधिदैविक प्राण में विलय को प्राप्त होकर वे विनष्ट नहीं होते, वरन् पुनः उस वायु से ही उनका प्राकट्य होता है। इस तरह से यह आधिदैविक दृष्टि हुई। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतलाई जाती है॥ १२॥

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथैतन्म्रियते यन्न वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्छ्रोत्रेण शृणोत्यथैतन्म्रियते यन्न शृणोति तस्य मन एव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणस्ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे मृता न मृच्छन्ते तस्मा देव उ पुनरुदीरते तद्यदिह वा एवं विद्वांस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तेयातां तुस्तूर्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं स्तृण्वीयाताम्। अथ य एनं द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परिम्रियन्ते॥ १३॥

पुरुष वाणी के द्वारा जो भी कुछ बोलता है, वह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब वह नहीं बोलता, उस समय 'वाक्' का तेज चक्षु को मिल जाता है, इस प्रकार प्राण का मिलन प्राण में हो जाता है। यह पुरुष चक्षु के माध्यम से जो भी कुछ देखता है, ऐसा लगता है कि ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चक्षु से कुछ भी नहीं दिखाई देता, उस समय चक्षु का तेज श्रोत्र को मिल जाता है एवं प्राण प्राण में ही विलीन हो जाता है। यह जो भी कुछ श्रोत्र द्वारा श्रवण करता है, यह ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ब्रह्म ही घोषित हो रहा है और जब यह श्रवण नहीं करता, उस समय उसका प्रकाश मन को प्राप्त हो जाता है तथा प्राण का प्राण में विलय हो जाता है। यह जो मन के द्वारा ध्यान करता है, यह मानो ब्रह्म ही घोषित हो रहा है और जब चिन्तन नहीं करता, तब उस समय मन का तेज भी प्राण में विलीन हो जाता है। इस तरह ये समस्त वाक्-इन्द्रिय आदि देवता प्राण में ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राण में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते, इसलिए पुनः प्राण के द्वारा ही वे

प्रकट होते हैं। उस दैव-परिमर अर्थात् प्राण का पूर्ण ज्ञान हो जाने के बाद यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतों को, जो पृथ्वी मण्डल के उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक फैले हों, अपनी इच्छानुसार चलने के लिए प्रेरित करें, तो वे पर्वत इन विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो भी मनुष्य इस 'दैव परिमर' के जानकार श्रेष्ठ पुरुष से द्वेष-भाव करते हैं या फिर वह खुद ही जिनसे द्वेष रखता है, वे सब के सब सदैव के लिए विनष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अथातो निःश्रेयसादानं सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः। अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिश्य एव। अथैनच्चक्षुः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैनत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठा आकाशात्मानः स्वरीयुस्तथो एवैवं विद्वान्सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठ आकाशात्मा स्वरेति स तद्भवति यत्रैते देवास्तत्प्राप्य तदमृतो भवति यदमृता देवाः ॥१४

अब मोक्ष (मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना-) आदि साधन के गुणों से विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना का वर्णन किया जाता है। एक समय वाणी आदि समस्त देवता अहंकार के वशीभूत हो, अपनी-अपनी महत्ता सिद्ध करने हेतु आपस में विवाद करने लगे। वे सभी प्राण के साथ ही शरीर से बहिर्गमन कर गये। उन वाणी आदि सभी इन्द्रियों के निकल जाने पर वह शरीर काष्ठ की भाँति चेष्टारहित होकर सो गया। इसके अनन्तर उस शरीर में वाणी ने प्रवेश किया। वाक् शक्ति के प्रविष्ट होते ही वह वाणी से बोलने लगा, लेकिन वह अपने स्थान से उठ न सका, सोया ही रहा। इसके बाद नेत्रेन्द्रिय ने उस शरीर में प्रवेश किया। तब वह वाणी से बोलता और चक्षु से देखता हुआ भी सोया ही रहा, उठने में प्रायः असमर्थ ही रहा। तदनन्तर उस शरीर में श्रोत्रेन्द्रिय ने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाक् से बोलता, चक्षु से देखता एवं कानों से श्रवण करता हुआ भी सोया ही रहा, वह उठने में असमर्थ ही बना रहा। तत्पश्चात् उस शरीर में मन प्रविष्ट हुआ। तब वह शरीर वाणी से बोलता, चक्षु से देखता, कान से श्रवण करता एवं मन से सोचता (विचार करता) हुआ भी पड़ा ही रहा, उठ नहीं सका। तब सभी के बाद में प्राण ने उस शरीर में प्रवेश किया। उस प्राण तत्त्व के प्रविष्ट होते ही वह शरीर उठ बैठा। तत्पश्चात् उन वाणी आदि देवताओं ने प्राण में ही मोक्ष आदि साधन की शक्ति को जानकर एवं विशिष्ट ज्ञान स्वरूप प्राण को ही सभी तरफ से व्याप्त जानकर के प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के सहित इस शरीर रूपी लोक से ऊर्ध्व की ओर अर्थात् शरीर से बाहर गमन किया। इसके बाद वे प्राण वायु में अर्थात् आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर के आकाश रूप में परिणत हो स्वर्ग लोक में गये। वे अपने अधिष्ठातृ देवता अग्नि आदि के स्वरूप को प्राप्त हो गये। वैसे ही इस रहस्य को जानने वाले विद्वान् सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के साथ इस शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित हो, आकाशरूप में परिणत हो स्वर्ग लोक को गमन करते हैं। वह मनीषी वहाँ उस प्रसिद्ध प्राण का ही रूप हो जाता है, जिसमें ये सभी वाक् आदि देवता प्रतिष्ठित होते हैं। उस प्राण-तत्त्व को पाकर वह मनीषी प्राण के उस अमृतत्व गुण से सम्पन्न हो जाता है, जिस अमृतत्व गुण से वे वाणी आदि समस्त देवता भी प्रकट होते हैं॥ १४॥

अथातः पितापुत्रीयं संप्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा संप्रच्छन्नः स्वयं श्येत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यते, इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीताथास्मै संप्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पिता अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता, आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्या मे त्वयि दधानीति पिता, इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान्मे त्वयि दधानीति पिता धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणावुत्प्राडुपनिष्क्रामति तं पिताऽनुमन्त्रयते यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गाँल्लोकान्कामानाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेद्यद्यु वै प्रेयाद्यदेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति॥ १५॥

(**प्राणोपासक का सम्प्रदान-कर्म-**) अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन करते हैं। जब पिता यह निश्चय करे कि मुझे अब इस शरीर का परित्याग करना है, तब वह अपने पुत्र को पास में बुलाए। तत्पश्चात् कुश-कासादि तृणों से यज्ञशाला को ढक करके विधि-विधान से अग्नि को स्थापित करे। अग्नि के उत्तर या पूर्व दिशा में जल से भरा हुआ कलश प्रतिष्ठित करे। कलश के ऊपर धान्य से भरा हुआ पूर्ण-पात्र भी रखे। स्वयं भी नवीन वस्त्र (धोती एवं उत्तरीय) का आच्छादन करे। इस तरह श्वेत शुभ्र वस्त्र एवं माला आदि धारण करते हुए घर में प्रवेश करके पुत्र को अपने पास बुलाये। जब पुत्र पास में आ जाए, तो उसे अपने अङ्क में भर ले एवं अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे। या फिर केवल पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाक् आदि समस्त इन्द्रियों का दान करे। पिता कहे-हे पुत्र! मैं तुम में अपनी वाक् शक्ति की स्थापना करता हूँ। पुत्र कहे-पिताजी मैं आपकी वागिन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपने प्राण को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके प्राणतत्त्व को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपके नेत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता- मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी श्रोत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने अन्न-रसों को तुममें स्थिर करता हूँ। पुत्र-मैं आपके अन्न रसों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सभी श्रेष्ठ कर्मों को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके समस्त शुभ कर्मों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सुख एवं दुःख को भी तुममें प्रतिष्ठित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके सभी तरह के सुख एवं दुःखों को स्वीकार करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं तुममें मैथुन जनित आनन्द, रति एवं सन्तान की उत्पत्ति की शक्ति स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी उस शक्ति को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी गतिशक्ति तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी गतिशक्ति को स्वयं में ग्रहण करता हूँ। पिता-मैं अपनी बुद्धि-वृत्तियों को, बुद्धि द्वारा ज्ञात विषयों

को एवं विशेष इच्छाओं को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी बुद्धि वृत्तियों को, बुद्धि के द्वारा ज्ञात विषयों को एवं इच्छाओं को धारण करता हूँ। तत्पश्चात् पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करते हुए प्राची दिशा की तरफ पिता के पास से निकलता है। उस समय पिता पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहे-'यश, ब्रह्मतेज, अन्न को ग्रहण करने एवं पचाने की सामर्थ्य तथा श्रेष्ठ-कीर्ति ये सभी सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।' पिता के इस तरह कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की तरफ नजर घुमाकर देखते हुए हाथ से ओट-करके या फिर कपड़े को सामने करके उसकी आड़ से पिता से इस प्रकार कहे-'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को एवं वहाँ के समस्त भोगों की प्राप्ति करें।' इसके अनन्तर यदि पिता नीरोग हो, तो वह पुत्र को घर का स्वामी मानकर उसके साथ निवास करे या सर्वस्व त्यागकर घर से बाहर निकलकर संन्यासी हो जाए या फिर यदि वह दूसरे लोक को चला जाये, तो जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्ति धाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सम्पूर्ण शक्ति-धाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। (यही वास्तव में सही उत्तराधिकार है।) ॥ १५ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

(इन्द्र एवं प्रतर्दन का संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन-)

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनः। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच। न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्येवमवरो वै किल म इति होवाच प्रतर्दनोऽथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय। सत्यं हीन्द्रः स होवाच। मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते। न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेत्तीति ॥१ ॥

ऐसा प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन (एक बार देवासुर-संग्राम में) देवताओं के सहायतार्थ इन्द्र के श्रेष्ठ धाम स्वर्ग लोक में गये। वहाँ उनकी अद्वितीय युद्धकला एवं शौर्य से अति संतुष्ट होकर इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर प्रदान करूँ? वीर प्रतर्दन ने कहा-हे देवेन्द्र! जिस श्रेष्ठ वर को आप मानव जाति के लिए परम कल्याण युक्त मानते हों, वैसा ही कोई श्रेष्ठ वर आप स्वयं ही मेरे लिए प्रदान करें। इन्द्र ने कहा- हे राजन्! इस संसार में यह सभी जगह विदित है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे के लिए वर की माँग नहीं करता। इसलिए आप अपने लिए कोई भी वर माँगें। प्रतर्दन ने कहा कि तब तो मेरे लिए वर का अभाव ही रह गया। प्रतर्दन के ऐसा कहने के पश्चात् देवराज इन्द्र निश्चय ही अपने सत्य पथ पर आरूढ़ रहे, वे स्वयं ही साक्षात् सत्य के स्वरूप हैं। उन प्रख्यात देवराज इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! तुम मुझे ही यानी मेरे ही यथार्थ स्वरूप को जानो। इसे ही मैं मानव जाति के लिए परम कल्याणकारी वर मानता हूँ। त्वष्टा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप को, जिसके तीन सिर थे, उसे मैंने अपने वज्र के प्रहार से मार डाला है। कितने ही (मिथ्या अहंकारी) संन्यासियों को जो अपने आश्रम के श्रेष्ठ आचरण से पदच्युत हुए एवं बहिर्मुख अर्थात् ब्रह्म के श्रेष्ठ

विचारों से रहित हो चुके थे, ऐसे उन सभी को खण्ड-खण्ड करके भेड़ियों के सम्मुख डाल दिया है। कई बार-प्रह्लाद के सहयोगी दैत्य राजाओं को मौत की नींद सुला दिया है। पुलोम नामक असुर के सहयोगी दैत्यों एवं पृथिवी पर निवास करने वाले कालखाञ्ज नाम से युक्त अधिकांश असुरों को भी विनष्ट कर दिया; किन्तु इतने पर भी अहंकार एवं कर्मफल की कामना से रहित होने के कारण मुझ प्रसिद्ध देवेन्द्र के एक रोम को भी नुकसान नहीं पहुँचा। इसी तरह जो मुझे ठीक प्रकार से जान ले, उसके पुण्य लोक को किसी भी कर्म से हानि नहीं होती। मेरे सत्यरूप का विवेक रखने वाले मनुष्य को बड़ा से बड़ा पाप भी प्रभावित नहीं कर पाता (इन्द्रदेव वृत्तियों के रक्षक हैं। देव प्रवृत्तियों की रक्षार्थ यदि किसी आततायी का वध भी करना पड़े, तो उस क्रिया का पातक नहीं लगता। इसीलिए इन्द्र कहते हैं कि-) मेरे स्वरूप को जानने वाले को पाप नहीं लगता और न उसका मुख कभी (भय या अशक्ति के कारण) नीला पड़ता है॥१॥

स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व। आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्। यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति। प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्। स यो ममायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिँल्लोक एति। आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति। न हि कश्चन शक्नुयात्सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमित्येकभूयं वै प्राणाः। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत्सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति श्रोत्रं शृण्वत्सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति मनो ध्यायत्सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति। एवमु हैवैतदिति हेन्द्र उवाच। अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति॥ २॥

उन प्रसिद्ध इन्द्रदेव ने कहा कि "मैं स्वयं ही प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मारूप में प्रख्यात मुझ इन्द्र की तुम आयु एवं अमृतरूप से उपासना करो।" आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु एवं प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य दूसरे लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति करता है।

प्रज्ञा द्वारा व्यक्ति शाश्वत सत्य का निश्चय एवं ऊहा-पोह आदि करता है। जो व्यक्ति 'आयु' एवं 'अमृत' के रूप से मेरी अर्थात् इन्द्र की उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्णायु का गौरव प्राप्त करता है और स्वर्ग लोक में जाकर अक्षय अमृतत्व के सुख का भागीदार बनता है। इस प्राण के सन्दर्भ में कोई-कोई विद्वज्जन ऐसा कहते हैं कि निश्चय ही सभी प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियों सहित प्राण) एकीभाव को प्राप्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में वाणी द्वारा नाम सूचित करने, नेत्र द्वारा रूप देखने, कान से शब्द श्रवण करने एवं मन के द्वारा ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय ही सभी प्राण अपने एक ही भाव को प्राप्त करते हैं। वे सभी प्राण एकीकृत हो समस्त कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषय की क्रमशः अनुभूति करते हैं। जब वाक्-इन्द्रिय बोलने लगती है, उस समय सभी प्राण उसका (वाणी का) मौन रूप से अनुमोदन करते हैं। जब चक्षु देखता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसके पृष्ठ भाग में रहकर दृष्टिपात करते हैं। जब कान श्रवण करने लगता है, तब दूसरे अन्य समस्त प्राण भी उस कर्णेन्द्रिय का अनुसरण करते हैं। जब मन ध्यान करने लगता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसका साथ देते हुए चिन्तन करते हैं और जब मुख्य प्राण अपना कार्य करना प्रारम्भ करता है, तो अन्य समस्त प्राणेन्द्रियाँ भी उसके साथ-साथ वैसी चेष्टा

करती हैं, ऐसा प्रतर्दन ने निवेदन किया। इस तरह से उन देवों में श्रेष्ठ इन्द्र ने कहा-यह बात ऐसी ही है। 'समस्त प्राण एक होते हुए भी जो अन्य पाँच प्राण हैं, वे निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण स्वरूप हैं निश्चय ही यही बात है॥ २॥'

जीवति वागपेतो मूकान्हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान्हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इति। एवं हि पश्याम इति। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। तस्मादेतदेवोऽथमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतस्तस्यैषैव दृष्टिः। एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति। तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैषैव सिद्धिः एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य संमोहं न्येति तदाहुः। उदक्रमीच्चित्तम्। न शृणोति न पश्यति न वाचा वदति न ध्यायत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा याथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ॥३॥

'वागिन्द्रिय से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवित बना रहता है, क्योंकि गूँगों को प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। नेत्रों से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवन धारण किये रहता है, क्योंकि अंधों को प्रायः देखते ही हैं। श्रोत्रेन्द्रिय हीन व्यक्ति भी जीवित ही रहता है, क्योंकि बधिरों को प्रायः ही देखा जाता है। मनः शक्ति से रहित होने पर भी जीवन धारण किया जा सकता है, क्योंकि प्रायः ही छोटे बालकों को जीवित देखते हैं। प्राण के रहते, अंग-भंग हो जाने पर भी जीवन बना रहता है, किन्तु प्राण के रहित होने पर तो एक क्षण भी जीवन धारण करना असम्भव है। क्रिया शक्ति का बोध कराने वाला प्राण ही ज्ञान में प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान से युक्त आत्मा है। यही प्रज्ञात्मा इस शरीर को सभी तरफ से आबद्ध करके भिन्न-भिन्न क्रियायें कराता रहता है। अतः इस प्राण की ही 'उक्थ' रूप से उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्राण है या फिर जो प्रज्ञा कही गई है, वही प्राण है; क्योंकि प्रज्ञा एवं प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीर में निवास करते हैं तथा जीवात्मा के साथ मिलकर एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते अर्थात् बाहर निकलते हैं। इस प्राणमय परब्रह्म का यही दर्शन (ज्ञान) है और यही विज्ञान है; क्योंकि सुषुप्त अवस्था में जब सोया हुआ मनुष्य किसी भी तरह के स्वप्न नहीं देखता, उस समय शब्द सभी नामों के साथ, नेत्र रूपानुभूति सहित, कान शब्दों सहित और मन, चिन्तन सहित मुख्य प्राण में ही समाहित हो जाते हैं। वह मनुष्य जब जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राण बाहर निकल कर अपने-अपने उचित स्थान की ओर गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् उन प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवगण प्रादुर्भूत होते हैं तथा उन देवों से लोक एवं नामादि विषय उत्पन्न होते हैं।

इस प्राणरूप आत्मा की सिद्धि का वर्णन आगे किया जा रहा है। यही विज्ञान है कि जिस अवस्था में

रोग से पीड़ित व्यक्ति मरणासन्न हो जाता है, शक्तिहीन होकर चेतना रहित हो जाता है, उस समय वह किसी भी प्रिय अथवा परिचित व्यक्ति को पहचानने में समर्थ नहीं होता, उस समय कहते हैं कि उसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया है। यही कारण है कि वह न तो सुनता, न कुछ देखता है, न वाणी से कुछ बोलता है और न ही ध्यान करता है। उस समय वह केवल प्राणों में ही लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वाणी समस्त नामों के सहित, चक्षु सभी रूपों के सहित, कान सभी शब्दों के सहित एवं मन सभी ध्यानस्थ विषयों के सहित, उस प्राण तत्त्व में विलीन हो जाता है। वह मनुष्य जब फिर से जागता है, उस समय जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, उसी प्रकार इस प्राण स्वरूप आत्मा से वाणी आदि समस्त प्राण उत्पन्न होकर यथा-स्थान अपना स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। तदनन्तर प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि सभी देवता प्रादुर्भूत होकर समस्त लोक आदि को उत्पन्न कर देते हैं॥ ३॥

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते। वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्राणोऽस्मात्सर्वान्गन्धानभिविसृजते प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्रमस्मात्सर्वाञ्शब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यानान्यभिविसृजते मनसा सर्वाणि ध्यानान्याप्नोति सैषा प्राणे सर्वाप्तिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। अथ खलु यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः॥ ४॥

शरीर से उन्मुक्त होने वाला वह प्राण जब उत्क्रमण करता है, तब उस समय वह इन सभी इन्द्रियों के सहित ही उत्क्रमण करता है। उस समय वाक्-इन्द्रिय इस पुरुष के सभी नामों का परित्याग कर देती है; क्योंकि वागिन्द्रिय से ही मनुष्य नामों को ग्रहण कर पाता है। (ऐसा ही तथ्य सभी इन्द्रियों के विषय में है।) प्राण (घ्राणेन्द्रिय) सभी गंधों का त्याग कर देती है, चक्षु सभी रूपों को त्याग देता है, कर्णेन्द्रिय सभी तरह के शब्दों का परित्याग कर देती है और मन ध्यानस्थ विषयों का परित्याग कर देता है। इसी प्राणरूप आत्मा में समस्त इन्द्रियाँ समर्पित होकर अपने-अपने विषयों का पूर्ण रूप से परित्याग कर देती हैं। प्राण ही प्रज्ञा है और प्रज्ञा ही प्राण है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीर में एक साथ ही निवास करते हैं और एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते हैं। अब जिस तरह से समस्त भूत-प्राणी इस प्रज्ञा में एक रूप हो जाते हैं, इसकी (अगले मंत्र में) स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करेंगे॥ ४॥

वागेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। घ्राणमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य गन्धः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा चक्षुरेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य शब्दः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा जिह्वैवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्या अन्नरसः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तयोः कर्म परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा शरीरमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य सुखदुःखे परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रोपस्थ एवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा पादावेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तयोरित्या परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा॥ ५॥

निश्चय ही इस वाणी ने इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके (वाणी के) विषय रूप से कल्पित (भूतमात्रा अर्थात् पञ्चभूतों का अंश-विशेष) नाम-शब्द है। घ्राणेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ उस घ्राणेन्द्रिय के विषयरूप से जो कल्पित भूतमात्रा है, वह गन्ध है। चक्षु ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वही रूप है। ऐसे ही कर्णेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही शब्द है। स्वादेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है,वही अन्न का रस है। इसी प्रकार निश्चय ही हाथो ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर से उनके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही कर्म है। ऐसे ही शरीर ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही सुख एवं दुःख है। इसी तरह निश्चय ही उपस्थ ने भी उस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है, बाहर की तरफ उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही रति, आनन्द एवं प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति है। अवश्य ही पैरों ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उनके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वहँ विचरण-क्रिया है। ऐसे ही प्रज्ञा के एक अंग की प्रज्ञा ने ही पूर्ति की है। उस (प्रज्ञा) से सम्बन्धित बाह्य विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धि के द्वारा अनुभूत वस्तुएँ एवं मनुष्योचित इच्छाएँ-कामनाएँ हैं॥ ५॥

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसानाप्नोति प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति॥ ६॥

प्रज्ञा के द्वारा वाणी पर आरूढ़ हो, अर्थात् वाणी को वश में करके मनुष्य वाक् शक्ति के द्वारा नामों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय) पर अधिकार करके सभी तरह की गन्धों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही नेत्रों को वश में रखकर समस्त रूपों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से ही मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सभी तरह के शब्दों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही जिह्वा को वश में करके सम्पूर्ण अन्न के रसों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही हाथों को वश में करके हाथों द्वारा सभी प्रकार के कार्यों को पूर्ण करता है। प्रज्ञा द्वारा ही शरीर को वश में रखकर शरीर से भोग एवं पीड़ा जनित सुख-दुःखों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा से ही उपस्थ को वश में रखकर उसके द्वारा रति, आनन्द एवं प्रजनन सामर्थ्य को प्राप्त करता है। प्रज्ञा द्वारा ही पैरों को वश में करके पैरों द्वारा सम्पूर्ण विचरण क्रियाओं को स्वीकार करता है एवं प्रज्ञा से ही बुद्धि को वश में करके उस (बुद्धि) के द्वारा अनुभूति जन्य वस्तुओं एवं कामनाओं को ग्रहण करता है॥ ६॥

न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतः प्राणो गन्धं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतं गन्धं प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतं चक्षू रूपं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतद्रूपं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतं शब्दं

प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेता जिह्वाऽन्नरसं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमन्नरसं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतौ हस्तौ कर्म किंचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्कर्म प्राज्ञाससिषमिति न हि प्रज्ञापेतं शरीरं सुखं दुःखं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्सुखं दुःखं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कांचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमानन्दं न रतिं न प्रजातिं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेतौ पादावित्यां कांचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतामित्यां प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत॥ ७॥

प्रज्ञा के अभाव में वाणी किसी भी नाम का ज्ञान नहीं करा सकती; क्योंकि ऐसी अवस्था में व्यक्ति इस तरह कहता है कि मेरा मन अमुक ओर था, अतः मैं इस नाम को नहीं जान सका। प्रज्ञा से हीन होने पर प्राण (घ्राणेन्द्रिय) भी किसी गन्ध का बोध नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति इस प्रकार कहता है कि मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस कारण से मैं इस घ्राणेन्द्रिय की गन्ध को जानने में असमर्थ रहा, ऐसे ही प्रज्ञा से रहित होने पर, चक्षु-इन्द्रिय भी किसी भी तरह के रूप का ज्ञान नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति ऐसा कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, अतः मैं इसके उस रूप को नहीं जान सका।' प्रज्ञा से अलग रहकर कर्णेन्द्रिय भी किसी तरह के शब्द का बोध नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति यह कहता है कि मेरा मन उस समय अन्यत्र गमन कर रहा था, इस कारण से मैं इन शब्दों को नहीं जान सका। प्रज्ञा से रहित होने पर जिह्वा किसी भी अन्न के रस का अनुभव नहीं कर सकती। ऐसी स्थति में व्यक्ति, 'यह कहता है कि मेरा मन अन्यत्र चला गया था', अतः मैं अन्न के रस की अनुभूति नहीं कर पाया।' प्रज्ञा से रहित होते हुए हाथ किसी भी तरह के कर्म का बोध नहीं करा सकते। ऐसी दशा में मानव यह कहता है कि उस समय मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था। इसलिए मैं इस अमुक कार्य को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से अलग रहते हुए शरीर भी किसी तरह के सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था।' अतः मैं इस शरीर के सुख-दुःखों को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से रहित होकर उपस्थ भी किसी तरह के आनन्द, रति एवं प्रजा की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं करा सकता है। उस स्थिति में व्यक्ति कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, इस कारण से मैं उस आनन्द, रति एवं प्रजा के उत्पत्ति की जानकारी नहीं पा सका। प्रज्ञा से अलग रहकर दोनों पैर भी किसी तरह की गमन-क्रिया का ज्ञान नहीं करा सकते, उस स्थिति में व्यक्ति यह कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्य किसी स्थान की ओर चला गया था, इस कारण मैं इस आवागमन की क्रिया का अनुभव नहीं कर सका। प्रज्ञा के अभाव में कोई भी बौद्धिक-वृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, उस बुद्धि वृत्ति के द्वारा ज्ञात वस्तु के ज्ञान का एहसास नहीं हो सकता॥ ७॥

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यान्न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यान्न रूपं विजिज्ञासीत रूपविद्यं विद्यान्न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यान्नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यान्न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यान्न सुखदुःखे विजिज्ञासीत सुखदुःखयोर्विज्ञातारं विद्यान्नानन्दं न रतिं न प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यान्नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात् । ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः॥ ८॥

वाक् शक्ति को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् वाणी को प्रेरित करने वाले आत्मा को जानना चाहिए। गन्ध को जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि गन्ध को ग्रहण करने वाले आत्मा को जानना चाहिए; रूप को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, रूप के ज्ञाता साक्षी स्वरूप आत्मा को जानना चाहिए; शब्द को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, शब्द श्रवण करने वाले आत्मा को जानने की इच्छा रखनी चाहिए। अन्न-रस के ज्ञान की कामना व्यर्थ है, अन्न-रस के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिए। कर्म को जानने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए, कर्म-कर्त्तारूप आत्मा को जानना चाहिए। सुख-दुःख आदि के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, सुख-दुःख के विशेषज्ञ साक्षी रूप आत्मा को जानना चाहिए। आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानकार (आत्मतत्त्व) को समझना चाहिए; विचरण की क्रिया को समझने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, विचरण करने वाले साक्षी स्वरूप आत्मा को ही जानने का प्रयास करना चाहिए। इसी तरह मन को भी जानने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए; बल्कि मनन करने वाले आत्मा को ही जानना चाहिए। इस प्रकार ये दस ही भूत मात्राएँ अर्थात् नाम आदि विषय हैं; जो प्रज्ञा में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा की भी दस मात्राएँ (वाणी आदि इन्द्रिय रूप) हैं, जो कि समस्त प्राणियों में विद्यमान हैं। यदि ये प्रख्यात समस्त भूत मात्राएँ न हों, तो प्रज्ञा की मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं और यदि प्रज्ञा की मात्राएँ न हों, तो भूत मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं ॥८॥

न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिध्येत्। नो एतद्वाना, तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः स म आत्मेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥ ९॥

इन दोनों में से किसी भी एक के माध्यम से किसी भी रूप, विषय अथवा इन्द्रिय की सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रज्ञा मात्रा और भूतमात्रा के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। उसे इस तरह से जानना चाहिए, जिस प्रकार रथ की नेमि अरों में और अरे रथ की नाभि के आश्रित रहते हैं; उसी प्रकार ही ये समस्त भूत मात्राएँ प्रज्ञा मात्राओं में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा मात्राएँ प्राण में स्थित हैं। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दस्वरूप, अजर-अमर है। यह न तो अच्छे कर्म से वृद्धि को प्राप्त होता है और न ही बुरे कर्म से छोटा होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञा रूप चैतन्य युक्त परब्रह्म ही इस देहाभिमानी पुरुष से श्रेष्ठ कार्य करवाता है। वह ऐसे श्रेष्ठ कृत्य उसी से करवाता है, जिसे वह इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊर्ध्व की तरफ ले जाना चाहता है और जिसे वह इन श्रेष्ठ लोकों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है,उससे अशुभ कार्य करवाता है। यह आत्मा समस्त लोकों का अधिपति है एवं यही सभी का स्वामी है। इन सभी श्रेष्ठ गुणों से युक्त वह प्राण ही आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा ही जानना चाहिए॥ ९॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

काशी नरेश अजातशत्रु एवं ब्रह्मर्षि गार्ग्य का संवाद—

अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानःसंस्पृष्ट आस सोऽवददुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच। ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः। सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति॥ १॥

गर्ग गोत्र में प्रादुर्भूत बलाका ऋषि के पुत्र एवं गार्ग्य के नाम से प्रख्यात एक ब्राह्मण-ऋषि थे। उन्होंने चारों वेदों का पूर्ण अध्ययन किया था, साथ ही वेदों के अच्छे प्रख्यात वक्ता भी थे। उस समय जगत् में उनकी बड़ी ख्याति थी। उनका निवास उशीनर प्रदेश में था, किन्तु सतत गतिशील रहने के कारण, वे कभी मत्स्यदेश, तो कभी कुरु-पाञ्चाल में रहा करते थे। इस भाँति वे प्रख्यात गार्ग्य एक काशी के विद्वान् राजा अजातशत्रु के समीप में पहुँचे और अहंकार से युक्त वाणी में बोले-'हे राजन्! मैं आपके लिए ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा।' गार्ग्य के इस तरह से कहने पर उन प्रसिद्ध काशी नरेश ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपकी इस बात पर हम आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं। अवश्य ही आज-कल लोग प्रायः जनक-जनक कहते हुए ही उनके पास में दौड़ जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही इस ब्रह्मविद्या के श्रोता एवं दानी हैं, इस प्रकार कहकर प्रायः लोग उन्हीं के समीप में जाते हैं, आज आप हमारे पास आकर विदेहराज जनक की भाँति हमारा गौरव बढ़ाया है, इसलिए हम आपको सहर्ष एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं)॥ १॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः। बृहन्पाण्डरवासा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति॥ २॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र विप्रवर गार्ग्य जी कहने लगे-'हे राजन्! यह जो सूर्यमण्डल में अन्तर्यामी परमेश्वर स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मबुद्धि से साधना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ ऋषि से काशी नरेश अजातशत्रु बोले-'हे ब्रह्मन्! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। अवश्य ही यह शुक्लवस्त्रधारी सभी से महान् है। यह सभी का अतिक्रमण करता हुआ सबसे उच्च स्थिति में केन्द्रित है, यह सबका शीश है। इस तरह से मैं इसकी उपासना करता हूँ, जो मनुष्य सूर्य मण्डल में स्थित उस विराट् पुरुष की इस तरह से उपासना करता है, वह सभी का अतिक्रमण कर सबसे उच्च स्थिति में पहुँचता है एवं समस्त भूत-प्राणियों का शीश माना जाता है॥ २॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सोमो राजाऽन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो मेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति॥ ३॥

उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! चन्द्रमण्डल में जो यह अन्तर्यामी विराट् पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्मरूप में मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुन करके उन (गार्ग्य) से राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन् ! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। यह सोम ही राजा है एवं अन्न का आत्मा भी यही है। इस प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' इसी तरह वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्र मण्डल के अन्तर्गत इस पुरुष की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह निश्चय ही अन्न की आत्मा हो जाता है अर्थात् अन्न राशि से युक्त हो जाता है॥ ३॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठास्तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस आत्मा भवति॥ ४॥

तब वे विप्रश्रेष्ठ गार्ग्य मुनि कहने लगे-'हे राजन्! विद्युत् मण्डल के अन्तर्गत जो यह अन्तर्यामी विराट् परब्रह्म है, मैं उसी का उपासक हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु तुरन्त बोले-'हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इस (विद्युत्) को प्रकाश की आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' इस प्रकार जो भी मनुष्य विद्युत्-मण्डल में स्थित ब्रह्म की उपासना करता है, वह प्रकाश स्वरूप आत्मा ही हो जाता है॥ ४॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति॥ ५॥

तदुपरान्त बलाका-तनय गार्ग्य ने पुनः कहना प्रारम्भ किया- 'हे राजन्! मेघमण्डल में गर्जना रूप में विद्यमान उस अन्तर्यामी अविनाशी परम ईश्वर की मैं साक्षात् परम ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन प्रख्यात नरेश अजातशत्रु ने उत्तर देते हुए कहा- हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इसे शब्द की आत्मा समझकर इस श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करता हूँ। इस भाँति से जो भी मनुष्य इस मेघमण्डल में विद्यमान परब्रह्म को शब्द की आत्मा मानकर उपासना करता है, वह मनुष्य स्वयं ही शब्द की आत्मा के रूप में परिणत हो जाता है॥ ५॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिः। नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते॥ ६॥

तत्पश्चात् पुनः बलाका-नन्दन गार्ग्य ऋषि ने कहा-'हे राजन्! आकाश मण्डल में प्रतिष्ठित परब्रह्म परमेश्वर की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपको इस सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहना चाहिए।' यह तो पूर्ण, प्रवृत्ति रहित (क्रिया रहित) एवं ब्रह्म अर्थात् सभी से विशाल है। अवश्य ही इसी रूप में मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी तरह जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध आकाश मण्डल के अन्तर्गत स्थित पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, न तो स्वयं वह और न उसकी संतान ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते। जिष्णुर्ह वापराजयिष्णुरन्यतस्त्यजायी भवति॥ ७॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः कहने लगे-'हे राजन्! यह जो वायुमण्डल में स्थित विराट् पुरुष है, मैं (गार्ग्य) अविनाशी ब्रह्म के रूप में इसकी उपासना करता हूँ।' गार्ग्य से ऐसा सुनने पर उन प्रसिद्ध नरेश अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! आपको इस विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहिए; यह इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ ऐश्वर्य से युक्त, वैकुण्ठ अर्थात् कहीं भी कुण्ठाग्रस्त न रहने वाला तथा कहीं भी न हारने वाली सेना है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ; इसी तरह से जो भी मनुष्य इस वायु मण्डल के मध्य में स्थित

विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह मनुष्य निश्चित ही सदा विजयी रहने वाला, दूसरों से कभी भी न हारने वाला एवं अपने को पराक्रम के द्वारा वश में करने वाला होता है॥ ७॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्हैवान्वेष भवति॥ ८॥

तदनन्तर उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! यह जो अग्नि मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार कहे जाने पर वे राजा अजातशत्रु गार्ग्य ऋषि से कहने लगे-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कृपा करके कुछ भी संवाद न करें। यह 'विषासहि' अर्थात् दूसरों के प्रहार को सहन करने की सामर्थ्य वाला है। अवश्य ही इसी भावना से मैं इस तत्त्व की उपासना करता हूँ।' इसी तरह से जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध अग्नि के मध्य में स्थित विराट् पुरुष की उपासना करता है, वह इस उपासना के बाद दूसरों का आवेग सहन करने में समर्थ हो जाता है॥ ८॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्॥ ९॥

उन ख्याति प्राप्त बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन् ! जो यह जल मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष स्थित है, इसकी ही मैं ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस विषय में कृपा करके आप कुछ भी न कहें। यह नामधारी जीवात्मा है, ऐसा जानकर ही मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसी भाव से इसकी उपासना करता है, वह नामधारी समस्त प्राणिमात्र की आत्मा हो जाता है। इसे आधिदैवत उपासना कहा जाता है। आगे अब अध्यात्म उपासना का वर्णन करते हैं॥ ९॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः॥ १०॥

उन प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी ने कहा- 'हे राजन्! जो यह दर्पण में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उन गार्ग्य मुनि से राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे मुने! इसके सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्रतिरूप (रूप का ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब) है, अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ।' इसी तरह से वह मनुष्य भी यदि इस दर्पण के मध्य में विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, तो वह उस प्रतिरूप गुण से विभूषित हो जाता है। उसकी संतानें उसके अनुरूप ही होती हैं। प्रतिकूल रूप व स्वभाव वाली नहीं होती॥१०॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद्द्वितीयवान्भवति॥ ११॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य फिर बोले- 'हे राजन्! जो यह विराट् पुरुष प्रतिध्वनि में स्थित है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार उन गार्ग्य ऋषि से राजा अजातशत्रु ने कहा-हे ब्रह्मन्! आप इस

सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। यह 'द्वितीय' एवं 'अनपग' (एक ध्वनि के पुनरावृत्ति एवं प्रतिध्वनि में गति का अभाव) है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना के साथ उपासना करता हूँ।' ऐसे ही जो भी उपासक इस प्रतिध्वनिगत विराट् पुरुष की इस ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह अपने अतिरिक्त दूसरे अर्थात् स्त्री-पुत्रादि को प्राप्त कर लेता है और सदा द्वितीयवान् रहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादि से वह वियोग को नहीं प्राप्त होता॥ ११॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्संमोहमेति ॥ १२॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः बोले- 'हे राजन्! जो यह गमन करते हुए विराट् पुरुष के पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसी अविनाशी परमात्मा की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! इस संदर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्राण स्वरूप है, इसलिए निश्चित रूप से इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इस श्रेष्ठ तत्त्व की इस रूप में उपासना करता है, वह पूर्ण आयु के पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसकी सन्तान ही पूर्ण आयु के पूर्व मृत्यु को प्राप्त होती है॥ १२॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायापुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रमीयते॥ १३॥

सुप्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी पुनः कहने लगे-'हे राजन्! शरीरधारी के साथ जो छाया विचरण करती है, मैं उसी छायारूप विराट् पुरुष की उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन गार्ग्य ऋषि से सुप्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह छाया तो मृत्युरूप है, मैं इसकी उसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो उपासक उस विराट् ब्रह्म की इस रूप में उपासना करता है, वह समय से पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसके पुत्र ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥ १३॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः॥ १४॥

गार्ग्य जी ने आगे कहा- 'हे राजन्! यह जो विराट् पुरुष शरीर में स्थित है, उसे मैं साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह प्रजापति स्वरूप है, इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी मनुष्य इस शरीर में निवास करने वाले पुरुष की प्रजापति भाव से उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है॥१४

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्न्यया चरति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते॥ १५॥

गार्ग्य जी पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो प्रज्ञा से नित्य-युक्त प्राण स्वरूप आत्मा है, जिससे एकता को प्राप्त करके यह सोया हुआ विराट् पुरुष स्वप्न मार्ग से विचरण करता है (अर्थात् विभिन्न तरह के स्वप्नों का

अनुभव करता है), उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' यह सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह यम राजा है, ऐसा जानकर मैं इसी भाव से इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसकी इसी तरह से उपासना करता है, उस उपासक की श्रेष्ठता-अभिवर्धन हेतु यह समस्त संसार नियमपूर्वक चेष्टा करता है॥ १५॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचा-जातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति॥ १६॥

पुनः गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! जो यह दाहिने नेत्र में विराट् पुरुष स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा गार्ग्य ऋषि से सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! कृपया आप इस विषय में कुछ भी न कहें।' यह नाम, अग्नि एवं ज्योति की आत्मा है। इसकी मैं इसी भावना के अनुसार उपासना करता हूँ। इसी तरह से जो भी उपासक इसकी उपासना करता है, वह इन सभी की आत्मा के समान हो जाता है॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवतीति॥ १७॥

तब गार्ग्य पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो बायें नेत्र में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी श्रेष्ठ पुरुष की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह सत्य का, विद्युत् का एवं तेज का आत्मा है। इसकी मैं इसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इसकी इस भाव से उपासना करता है, वह सभी की आत्मा हो जाता है॥

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुः। एतावन्नु बालाका३इ इत्येतावद्धीति होवाच बालाकिस्तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच। यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तत्स्याद्यत्क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत्। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे। बृहन्पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव शिश्ये। तत उ हैनं यष्ट्याविचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ तं होवाचाजातशत्रुः। क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत्कुत एतदागा३दिति। तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञौ॥१८

राजा अजातशत्रु के इस तरह से कहने के पश्चात् वे बलाका-तनय गार्ग्य जी मौन हो गये। तदनन्तर उन (गार्ग्य जी) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्न पर बलाका-पुत्र गार्ग्य ने कहा-'हाँ, इतना ही है।' तब राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! तब तो व्यर्थ ही आपने यह कहा कि तुम्हारे लिए ब्रह्म का उपदेश करूँगा।' निश्चय ही जो आपके द्वारा कहे हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषों का कर्त्ता है-वही जानने योग्य है। उन श्रेष्ठ राजा अजातशत्रु के इस तरह कहने पर वे प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य हाथ में समिधा ग्रहण कर उनके पास जाकर कहने लगे-'हे राजन्! मैं आपको गुरु बनाने के लिए आपके पास आया हूँ।' ऐसा सुनकर राजा ने कहा-'यह विपरीत बात हो जायेगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य

बनाने के लिए अपने पास बुलाये। अतः आप आयें (एकान्त स्थान की ओर चलें), वहाँ आपको निश्चय ही मैं स्वयं विराट् ब्रह्म का बोध कराऊँगा।' ऐसा कहकर राजा (अजातशत्रु) बलाका-तनय गार्ग्य का हाथ पकड़ करके वहाँ से चल दिये। वे दोनों (राजा एवं गार्ग्य) एक सोये हुए व्यक्ति के पास आये। वहाँ पर राजा अजातशत्रु ने उस सोये हुए व्यक्ति को जगाने का प्रयास करते हुए बुलाया-'हे ब्रह्मन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इस तरह से सम्बोधन करने पर भी जब वह व्यक्ति सोया ही रहा, तब उस व्यक्ति के शरीर में छड़ी से प्रहार किया। जैसे ही उसके शरीर में प्रहार किया गया, वह सोया हुआ व्यक्ति उस छड़ी की चोट से उठकर खड़ा हो गया। ऐसा दृश्य देखकर बलाका-पुत्र गार्ग्य से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! यह व्यक्ति इस तरह अचेत सा रहकर कहाँ शयन करता था? किस प्रदेश में इसका शयन हुआ था? तथा इस जाग्रत्-अवस्था में यह कहाँ से आ गया है?'॥ १८॥

तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति। शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यस्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नैवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्। विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः॥ १९॥

गार्ग्य इस रहस्य को न समझ पाये, तब पुनः उनसे राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाका-तनय! यह पुरुष इस तरह से अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ शयन करता था और इस जाग्रत्-अवस्था में इसका जहाँ से आगमन हुआ है, वह स्थान इस प्रकार से जाना जाता है। 'हिता' नाम से प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं,जो कि हृदय-कमल से सम्बन्ध रखने वाली हैं। वे (नाड़ियाँ) हृदय-कमल से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत होकर फैली हुई हैं। इन नाड़ियों का परिमाण इस तरह से है-एक बाल के हजारवें भाग के बराबर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म वे सभी नाड़ियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् विभिन्न तरह के रंगों का जो अति सूक्ष्मतम रस है, इससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत एवं रक्त आदि इन सभी रंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से वे सम्पन्न हैं। उन्हीं समस्त नाड़ियों में यह पुरुष सुषुप्तावस्था के समय विद्यमान रहता है।

जिस समय यह सोया हुआ पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता, तब उस समय यह इस मुख्य प्राण तत्त्व में ही एकात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। उस समय वाणी अपने समस्त नामों सहित इस प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती है। चक्षु भी अपने सभी रूपों के साथ इस प्राण में ही मिल जाता है। कर्णेन्द्रिय अपने सभी शब्दों के साथ इस प्राण में विलीन हो जाती है और मन भी सभी चिन्तनयुक्त विषयों के सहित इस प्राण-तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह पुरुष जब जाग जाता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राणतत्त्व बहिर्गमन कर अपने-अपने भोग्य-स्थल की तरफ गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवों का प्रादुर्भाव होता है एवं साथ ही देवताओं से लोक अर्थात् नाम आदि विषयों का प्राकट्य होता है। उस

श्रेष्ठ आत्मा की प्राप्ति का उदाहरण इस तरह से है-जैसे क्षुरधान (अर्थात् छुरा रखने हेतु निर्मित की हुयी चर्मयुक्त पेटी) में छुरा रखा रहता है, वैसे ही शरीर के अन्दर हृदय-कमल में अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष के रूप में परमात्म सत्ता की स्थिति होती है एवं जिस तरह अग्नि अपने नीड-भूत अरणी आदि काष्ठ में सभी जगह फैली रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इस 'आत्मा' नाम से सम्बोधित किये जाने वाले शरीर में नख से शिखा तक व्याप्त है॥ १९॥

तमेतमात्मामेनत आत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति। स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान्सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद॥ २०॥

उसी साक्षीरूप आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा (इन्द्रियाँ) अनुगत सेवक की भाँति ठीक वैसे ही अनुसरण करती हैं, जैसे श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न धनी का, उसके आश्रय में जीवन-व्यतीत करने वाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं। जिस तरह धनी अपने आत्मीय जनों के साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनी का ही उपभोग करते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञा सम्पन्न आत्मा इन वाणी आदि आत्माओं के सहित उपभोग करता है और अवश्य ही इस आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा उपभोग करते हैं।

वे प्रख्यात देवराज इन्द्र जब तक इस आत्मा को नहीं जान पाये थे, तब तक उन्हें समस्त दैत्य समूह पराजित करते रहते थे; किन्तु जैसे ही उन्होंने अपनी आत्मा को जाना, वैसे ही देवराज इन्द्र ने उन समस्त दैत्यों को विनष्ट कर, उन्हें परास्त करके सम्पूर्ण देवों में श्रेष्ठता का पद, स्वर्ग का राज्य एवं त्रिलोकी का अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार आत्मा को जानने वाला ज्ञानी अपने समस्त पापों को मिटाकर सभी भूत-प्राणियों में श्रेष्ठ होकर स्वाराज्य और प्रभुता को प्राप्त कर सभी का स्वामी बन जाता है। जो भी उपासक इस प्रकार से उसे जानता है, उसे ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति हो जाती है॥ २०॥

वाङ्मे मनसि .....इति शान्तिः॥

॥ इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ क्षुरिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २५ मन्त्र हैं। यह उपनिषद् तत्त्व-ज्ञान के प्रति-बन्धक घटकों को काटने में क्षुरिका (छुरी-चाकू) सदृश समर्थ है। योग के अष्टांगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) में से धारणा की सिद्धि और उसके प्रतिफल की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है।

इस उपनिषद् में कहा गया है कि सर्वप्रथम योग साधना के लिए दृढ़ आसन पर बैठकर प्राणायाम की विशेष क्रियाओं का अभ्यास करते हुए शरीर के सभी मर्म स्थानों में प्राण का संचार उसी प्रकार करे, जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा निर्मित अति सूक्ष्म तन्तुओं पर गतिशील रहती है। तत्पश्चात् क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते हुए हृदय कमल स्थित सुषुम्ना नाड़ी से प्राण तत्त्व का संचार करते हुए तथा अन्य ७२ हजार नाड़ियों का छेदन करते हुए उस परब्रह्म स्थान तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ पहुँचने पर जीव (हंस) समस्त बन्धनों को काट डालने में समर्थ हो जाता है। उस समय वह अपने समस्त कर्म बन्धनों को जलाकर परम तत्त्व में उसी प्रकार लय को प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार दीपक निर्वाण (बुझने) के समय तेल-बाती सभी को जलाकर परम ज्योति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार वह (जीव) पुनः कर्म बन्धन में नहीं बँधता-जीवन मुक्त हो जाता है। यही इस उपनिषद् का सार है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥१ ॥

योग की सिद्धि हेतु मैं धारणा रूपी छुरिका के सम्बन्ध में यहाँ वर्णन करता हूँ, जिसे प्राप्त करके योग युक्त हो जाने वाले मनुष्य को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥१

[सुझाई गयी धारणा का उपयोग करके मनुष्य बन्धन मुक्त होता है, इसलिए उसे बन्धन काटने वाली छुरी कहा गया है। संसारी व्यक्ति लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर भव-बन्धनों में बँधते हैं। योगी जन अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार की साधना करते हुए धारणा तक पहुँचते हैं, तो आत्म सत्ता, परमात्म सत्ता और दोनों के बीच आदान-प्रदान, इन तीन में अपने चित्त को बाँध लेते हैं। इस धारणा के प्रभाव से सांसारिक बन्धन छिन्न हो जाते हैं।]

मन्त्र क्र० २ से ५ तक निर्धारित धारणा के पूर्व प्राणायाम का वर्णन है—

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयंभुवा। निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥ २ ॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च। मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः ॥ ३ ॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च। उरोमुखकटिग्रीवं किंचिद्धृदयमुन्नतम् ॥ ४ ॥
प्राणान्संधारयेत्तस्मिन्नासाभ्यन्तरचारिणः। भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत् ॥ ५ ॥

जैसा कि स्वयंभू ब्रह्माजी का कथन है और जो भाव वेद के तत्त्वार्थ में सन्निहित है, तदनुसार कोलाहल रहित स्थान में इसके लिए उचित आसन में स्थित होकर जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने संकल्प से समेट लेता है, वैसे ही मन और हृदय (के भावों) को निरुद्ध (बिखरने से रोक) करे तथा ॐ कार की बारह मात्राओं के माध्यम से (उतने समय में) धीरे-धीरे प्राण रूप सर्वात्मा को (पूरक द्वारा) अपने अन्दर पूरित करे। इस समय (प्राण के) सभी द्वारों को (बन्धों के माध्यम से) रोक करके छाती, मुख, कमर, गर्दन (को ऊपर की ओर खींचकर सीधा) तथा हृदय को कुछ उन्नत रखे। इस स्थिति में नासिका द्वारा संचरित प्राण को (कुम्भक के द्वारा) सभी स्थानों में धारण करे। जहाँ-तहाँ प्राणों का संचरण हो जाने पर फिर धीरे-धीरे वायु को (रेचक क्रिया द्वारा) बाहर छोड़ दे॥ २-५॥

[ॐ कार में तीन मात्राएँ होती हैं। १२ मात्रा का अर्थ हुआ, ४ बार ओंकार के सहज उच्चारण जितना समय लगाकर पूरक करे। उसी अनुसार कुम्भक एवं रेचक की मात्रा निश्चित करे।]

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः। द्वे तु गुल्फे प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः॥ ६॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः। वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत्॥ ७॥

धारणा युक्त उक्त प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, पूरी सावधानी के साथ पैर के अँगूठे सहित टखनों में दो-दो बार, (टखनों और घुटनों के बीच के भाग) जंघाओं या पिंडलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और ऊरु (जाँघों) में दो-दो बार तथा गुदा एवं जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार (प्राणायाम द्वारा) प्राणों के संचार की धारणा करे। इसके बाद नाभि प्रदेश में प्राणों की धारणा करे॥ ६-७॥

कटि प्रदेश से नीचे का भाग, जो मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों से सम्बद्ध है, उसमें प्राण-प्रवाह की धारणा स्थिर होने के बाद क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ एवं उससे ऊपर मन-बुद्धि (आज्ञा-सहस्रार आदि) तक प्राण-प्रवाह द्वारा धारणा को दृढ़ करने का संकेत आगे के मंत्रों में किया गया है-

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रविलोहिताः॥ ८॥

वहाँ पर इड़ा, पिङ्गला आदि दस नाड़ियों से आवृत सुषुम्ना नाम की ब्रह्म नाड़ी स्थित है। वहाँ भी अनेक नाड़ियाँ स्थित हैं, जो अति सूक्ष्म, लाल, पीली, काली एवं ताँबे के रंग की हैं॥ ८॥

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना॥ ९॥

वहाँ पर जो नाड़ी अति सूक्ष्म, पतली एवं शुक्ल वर्ण की है, उसका आश्रय प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपनी लार के तन्तुओं द्वारा गतिशील होती है, उसी प्रकार योगी को उस नाड़ी मण्डल में प्राणों को संचरित करना चाहिए॥ ९॥

[मकड़ी अपने ही अंश से सूक्ष्म तन्तु पैदा करती है, फिर उन्हीं तन्तुओं के सहारे से इच्छित दिशाओं में गमन करती है। नाड़ी तन्तु प्राण द्वारा ही सृजित होते हैं और उन्हीं के माध्यम से प्राणशक्ति को काया तन्त्र में गतिशील किया जाता है।]

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥ १०॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम्॥११॥

उस (नाभि) के बाद वेदान्त में जिसे दहर या पुण्डरीक कहा गया है, वह महत् आयतन वाला हृदय क्षेत्र है। वह क्षेत्र रक्त कमल की तरह सदा प्रकाशित रहता है। उस (हृदयक्षेत्र) के बाद नाड़ियों को पूरित करता हुआ (प्राण-प्रवाह) कण्ठ में आता है। उसके बाद मनःक्षेत्र और उससे परे गुह्य, निर्मल और तीक्ष्ण बुद्धि का स्थान है॥ १०-११॥

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्। मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥ १२॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्। तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत्॥१३॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्। चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः॥१४॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्म स्थान हैं, उनके नाम-रूप का चिन्तन करे। नित्य योगाभ्यास का आश्रय लेकर तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं से लगा हुआ जो 'इन्द्रवज्र' नामक क्षेत्र है, उसका छेदन करे। वहाँ उरुओं के बीच मर्म स्थलों का विमोचन करने वाले प्राण को ध्यान बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन की तीक्ष्ण धारणा से, निःशंक होकर (मूलाधार से हृदय पर्यन्त) चारों मर्म स्थलों का छेदन (भेदन) करे॥ १२-१४॥

ततः कण्ठान्तरे योगी समूहं नाडिसंचयम्। एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा॥१५॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च॥१६॥

इसके बाद योगी कण्ठ के अन्दर स्थित नाड़ी समूह में प्राणों को संचरित करे। उस नाड़ी समूह में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनके मध्य में पराशक्ति स्थित है। सुषुम्ना नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी ब्रह्ममय है। इड़ा का निवास बायीं ओर है और पिङ्गला दाहिनी ओर स्थित है॥ १५-१६॥

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्। द्वासप्ततिसहस्राणि प्रति नाडीषु तैतिलम्॥ १७॥

इन (इड़ा एवं पिङ्गला) दोनों नाड़ियों के मध्य में जो श्रेष्ठ स्थान है, उसे जो जानता है, वह वेद (अर्थात् शाश्वत ज्ञान) को जानने में समर्थ होता है। सभी सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है, जिन्हें तैतिल कहा गया है॥ १७॥

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते। योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥ १८॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभावादिह जन्मनि। जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति वै तिलम्॥ १९॥

ध्यान योग के द्वारा समस्त नाड़ियों का छेदन किया जा सकता है; किन्तु एक सुषुम्ना ही ऐसी है, जिसका कि छेदन नहीं किया जाता। धीर पुरुष को इस जन्म में आत्मा के प्रभाव से अग्निवत् तेजोमयी एवं योग रूपी निर्मल धार से युक्त (धारणा रूपी) छुरी से सैकड़ों (सभी) नाड़ियों का छेदन करना चाहिए। इससे नाड़ियाँ उसी तरह से सुवास युक्त हो जाती हैं, जिस तरह जाती (चमेली) के पुष्प से तिल (का तैल) सुवासित हो जाते हैं॥ १८-१९॥

एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडी तां विभावयेत्। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः॥२०॥

इस प्रकार योगी को चाहिए कि वह शुभाशुभ भावों से युक्त विभिन्न नाड़ियों को समझे। उनसे परे सुषुम्ना नाड़ी में धारणा स्थिर करने से योगी पुनर्जन्म से रहित होकर शाश्वत परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २०

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः। निःसङ्गस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः॥ २१॥

जिस व्यक्ति ने तप के द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, वह व्यक्ति शब्दरहित, एकान्त, निर्जन स्थान में स्थित होकर निःसङ्ग तत्त्व के योग का अभ्यास करे तथा शनैः-शनैः निरपेक्ष हो जाए॥ २१॥

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्क्रमेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२२॥

जिस प्रकार बन्धन-जाल को काटकर हंस निःशंक होकर आकाश में गमन कर जाता है, उसी प्रकार योगी मनुष्य इस योग के अभ्यास द्वारा सभी बन्धनों के कट जाने के पश्चात् बन्धन-मुक्त होकर संसार-सागर से सदा के लिएं पार हो जाता है॥ २२॥

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥ २३॥

जिस प्रकार निर्वाण काल में (बुझने के समय) दीप ज्योति (दीपक की तेल-बाती) सभी को जलाकर स्वयं परम प्रकाश में लीन हो जाती है, वैसे ही योगी मनुष्य अपने सभी कर्मों को योगाग्नि से भस्म करके अविनाशी परमात्म तत्त्व में लीन हो जाता है॥ २३॥

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते॥ २४॥

वैराग्य रूपी पत्थर पर ॐकार युक्त प्राणायाम से घिसकर तीक्ष्ण की गयी धारणा रूपी छुरी से संसार के (विषयादि) सूत्रों के काटने वाले योगी को सांसारिक बन्धन बाँध नहीं पाते॥ २४॥

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तुं न बध्यते छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत्॥ २५॥

जब वह (योगी मनुष्य) कामनाओं से छूट जाता है तथा एषणाओं से रहित हो जाता है, तभी (वह) अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है और पुनः बन्धनों में नहीं बँधता। क्षुरिकोपनिषद् का यही रहस्य है॥ २५॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति क्षुरिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ जाबालदर्शनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय है। इसे 'दर्शनोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें कुल दस खण्ड हैं, जिसमें भगवान् विष्णु के अवतार दत्तात्रेय जी और उनके शिष्य सांकृति का 'अष्टांगयोग' के विषय में विस्तृत प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन हुआ है।

प्रथम खण्ड में योग के आठ अंगों तथा दस यमों का उल्लेख हुआ है। द्वितीय खण्ड में दस नियमों का वर्णन है। तृतीय खण्ड में नौ प्रकार के यौगिक आसन बताए गये हैं। चतुर्थ खण्ड में नाड़ियों का परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञान की महिमा वर्णित की गई है। पंचम खण्ड में नाड़ी शोधन की प्रक्रिया एवं आत्मशोधन की विधियों का वर्णन है। छठें खण्ड में प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल तथा प्रयोग का उल्लेख किया गया है। सातवें में प्रत्याहार के विविध प्रकारों तथा उसके फल का विवरण है। आठवें एवं नवें में धारणा तथा ध्यान का वर्णन है। दोनों के दो-दो प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम दसवें खण्ड में समाधि अवस्था का वर्णन हुआ है। साथ ही उसके फल का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस उपनिषद् को पूर्णतया 'योगपरक' कहा जा सकता है।

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः। चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥ १ ॥
तस्य शिष्यो मुनिकरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥२ ॥
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्। येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥३ ॥

समस्त भूत-प्राणियों के पालक चतुर्भुज भगवान् विष्णु, योगिराज भगवान् दत्तात्रेय के रूप में प्रादुर्भूत हुए। भगवान् दत्तात्रेय जी योग-साम्राज्य (के अधिपति रूप) में दीक्षित हैं। उनके शिष्य मुनिश्रेष्ठ साङ्कृति नाम से प्रख्यात हैं। वे गुरु के परम भक्त हुए। उन्होंने एक दिन एकान्त में अपने गुरुदेव से विनयावनत होकर पूछा-'हे भगवन्! अष्टांगयोग का मेरे लिए सविस्तार वर्णन कीजिए ,जिसे जानकर मैं जीवन्मुक्त हो सकूँ'॥

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्। यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च॥ ४॥
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम्। धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने॥ ५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥ ६॥

महायोगी दत्तात्रेय जी ने अपने शिष्य से कहा- 'हे साङ्कृते! मैं अष्टांग योग दर्शन का वर्णन करता हूँ। तुम उसका श्रवण करो। हे ब्रह्मन्! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ही योग के आठ अंग हैं। इनमें यम के दस भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं-१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४.ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. क्षमा, ७. सरलता, ८. धृति, ९. मिताहार एवं १०. बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता॥ ४-६॥

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा॥ ७॥
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति या मतिः। सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥

हे तपोधन! वेद में वर्णित विधि के अतिरिक्त मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा यदि किसी को किसी भी तरह से पीड़ित किया जाता है अथवा उससे प्राणों को शरीर से अलग कर दिया जाता है, तो वही वास्तविक हिंसा कही गयी है। इससे भिन्न और कोई हिंसा नहीं है। हे मुने! यह भाव रखना चाहिए कि आत्म तत्त्व सर्वत्र

व्याप्त है,शस्त्र आदि के द्वारा वह नष्ट नहीं हो सकता। हाथों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण होना असम्भव ही है। अतः इस तरह से जो श्रेष्ठ बुद्धि है, उसे ही वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वानों ने श्रेष्ठ अहिंसा कहा है॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्॥ ९॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः। तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः॥ १०॥
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥११॥
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्। यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामुने ॥ १२॥

हे साङ्कृते! चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से जो जिस रूप में देखा, सुना, सूँघा और समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूप में वाक्-इन्द्रिय के द्वारा या फिर संकेत आदि के द्वारा कहना ही 'सत्य' है। इसके अतिरिक्त सत्य का और कोई भी स्वरूप नहीं है। सभी कुछ सत्य रूप परब्रह्म परमात्मा ही है, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस तरह का जो दृढ़ निश्चय है, उसी को वेदान्त ज्ञान के विशेषज्ञों ने सर्वश्रेष्ठ सत्य बताया है। दूसरे (व्यक्ति) के रत्न-आभूषण, सुवर्ण अथवा मणिमुक्तक आदि से लेकर तृण आदि के लिए मन में भी कभी प्राप्त करने की इच्छा न करना, दूसरों की बड़ी अथवा छोटी वस्तु के लिए मन में कभी लोभ-लालच न लाना ही अस्तेय है। विद्वज्जनों ने इसी को ही 'अस्तेय' अर्थात्- चोरी न करना कहा है। हे मुने! इस संसार के समस्त व्यवहारों में अनात्म बुद्धि रखकर आत्मा से दूर रखने का जो भाव है, उसी को आत्मज्ञानी जनों ने अस्तेय कहा है॥ ९-१२॥

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥१३॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप॥ १४॥ स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा।
अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः॥ १५॥

मन, वचन एवं शरीर के द्वारा स्त्रियों के सहवास का त्याग और ऋतुकाल में मात्र अपनी ही पत्नी से सम्बन्ध रखना 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है या फिर काम-क्रोधादि रिपुओं को कष्ट पहुँचाने वाले मन को परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व के ध्यान में लगाये रखना सबसे श्रेष्ठ 'ब्रह्मचर्य' है। समस्त भूतप्राणियों को अपनी ही भाँति जानकर उनके प्रति मन, वचन एवं शरीर द्वारा आत्मीयता का अनुभव करना (अर्थात् अपनी ही तरह उनके दुःखों को दूर करने तथा अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का प्रयास करना) ही वेदवेत्ता विद्वज्जनों के द्वारा 'दया' बताई गयी है॥ १३-१५॥

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम्। एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया॥ १६॥

पुत्र, मित्र, स्त्री, रिपु एवं स्व-आत्मा में भी सदैव मन का समान भाव रखना ही आर्जव (सरलता) है॥

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते। बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव॥ १७॥

हे श्रेष्ठ मुने! रिपुओं के द्वारा मन, वचन एवं शरीर से कष्ट दिये जाने पर भी बुद्धि में थोड़ा भी क्षोभ न आने देना ही 'क्षमा' कहलाता है॥ १७॥

वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः।
अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः॥ १८॥

वेद-ज्ञान से ही सम्पूर्ण जगत् मोक्ष को प्राप्त होता है और अन्य किन्हीं भी कारणों से नहीं। ऐसा जो दृढ़ संकल्प है, उसी को ही वेदज्ञों ने धृति की उपाधि प्रदान की है या फिर 'मैं आत्मा हूँ,' आत्मा से पृथक् दूसरा और कुछ भी नहीं हूँ। इस प्रकार से कभी भी विचलित न होने वाली बुद्धि ही श्रेष्ठ-उत्तम 'धृति' है॥१८॥

अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम्। तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम्॥ १९॥

अल्प मात्रा में शुद्ध-सात्त्विक भोजन ग्रहण करना,पेट के दो भाग भोजन से,तृतीय भाग को जल से तथा चौथे भाग को वायु केलिए खाली छोड़ना ही योगमार्ग के अनुकूल भोजन है,वही मिताहार कहलाता है॥ १९॥

स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः॥ २०॥

हे महामुने! अपने शरीर के मल को मिट्टी एवं जल से परिमार्जित किया जाता है, इस कृत्य को 'बाह्य शौच' कहते हैं और मन के माध्यम से श्रेष्ठ, पवित्र भावों का जो चिन्तन-मनन किया जाता है, उसे 'मानसिक शौच' कहा गया है। इसके अतिरिक्त विद्वज्जन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ,' इस श्रेष्ठ ज्ञान को ही शौच कहते हैं॥ २०

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥ २१॥

यह शरीर अन्तः एवं बाह्य दोनों ओर से ही अत्यन्त मलिन है और शरीर को धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त पवित्र, मलरहित है। इस प्रकार देह एवं आत्मा के अन्तर का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर फिर किसको पवित्रतम बनाया जाये॥ २१॥

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः। स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत॥ २२॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥२३॥

हे श्रेष्ठव्रती मुने! ज्ञानरूप पवित्रता को भुलाकर जो साधक केवल बाहरी पवित्रता में ही रमा रहता है, वह सुवर्ण का त्याग करके मिट्टी के ढेलों का संग्रह करने वाले मूर्ख की ही भाँति है। जो योगी ज्ञानरूप अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हो जाता है, उसके लिए इस जगत् में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है और यदि रह जाता है, तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है॥ २२-२३॥

लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्॥ २४॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादि साधनैः। आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात्॥ २५॥

आत्मज्ञानी महान् आत्माओं के लिए तीनों लोकों में भी कहीं कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः हे मुनीश्वर! तुम सभी तरह से प्रयत्न करके अहिंसा आदि साधनों के माध्यम से अनुभवयुक्त ज्ञान को प्राप्त करके आत्मा को अविनाशी ब्रह्म के रूप में जानो॥ २४-२५॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ १॥
एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु॥ २॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर की पूजा, लज्जा, जप, मति, व्रत एवं सिद्धान्त श्रवण करना-ये दस नियम बताये गये हैं। नीचे क्रमानुसार इनका उल्लेख करता हूँ॥ १-२॥

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तपं इत्युच्यते बुधैः॥३॥

वेद में वर्णित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर क्षीण करने को ही विद्वज्जन तप कहते हैं॥ ३॥

को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्। इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥४॥

मोक्ष क्या है और आत्मा कैसे तथा किस कारण से संसार-बन्धन को प्राप्त हुआ है, इन सभी बातों के विचार को ही तत्त्वज्ञानी जन 'तप' कहते हैं॥ ४॥

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्। तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥५॥
ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्। सर्वत्र विगतस्नेहः संतोषं परमं विदुः। श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते॥ ६॥

दैव-इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उतने मात्र से ही हृदय में जो प्रसन्नता सदैव बनी रहती है, ज्ञानी जन उसी को 'संतोष' मानते हैं अथवा सर्वत्र अनासक्त रहकर ब्रह्मा आदि देवताओं के लोक तक के सुखों से विरक्त होने के कारण मन में जो प्रसन्नता बनी रहती है, महान् पुरुष उसी को श्रेष्ठ संतोष मानते हैं। वेदों एवं स्मृति-ग्रन्थों में कहे हुए धर्म में दृढ़ आत्मविश्वास होने को ही 'आस्तिकता' कहते हैं॥ ५-६॥

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने। अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया॥ ७॥

न्यायोपार्जित जो धन संकटग्रस्त, क्लेश आदि से पीड़ित वेदज्ञ पुरुषों अथवा श्रेष्ठ आचरण वालों को श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, उसी धन को मैं 'दान' की श्रेणी में मानता हूँ॥ ७॥

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥८॥

राग आदि विकारों से मुक्त हृदय, असत्य भाषण आदि दोषों से परे वाणी एवं हिंसा आदि दोषों से मुक्त (श्रेष्ठ भगवत्-प्रीत्यर्थ) कर्म ही 'ईश्वर-पूजन' है॥ ८॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम्। प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥९॥

यह सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट एवं नित्य है। अविचल एवं परमानन्द स्वरूप यही अन्तर्यामी आत्मा है। इस सिद्धान्त को बारम्बार श्रवण कर उसके अनुकूल विश्वास करना ही 'सिद्धान्त-श्रवण' है॥ ९॥

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्। तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता। वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत्॥ १०॥

वैदिक एवं लौकिक मार्गों में जो निन्दित कार्य कहे गये हैं, उनको करने में जो स्वभावतः संकोच होता है, उसे ही लज्जा के रूप में जाना जाता है। वेदोक्त उपदेशों में पूर्णतः श्रद्धा रखना ही मति है॥ १०॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र संबन्धवर्जितः। वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥११॥

गुरुजनों के द्वारा अनुमति मिल जाने पर भी वेद के विरुद्ध मार्ग का अवलम्बन न प्राप्त कर वेदोक्त विधि से मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण करना ही 'जप' कहा गया है॥ ११॥

कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके। इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया॥ १२॥
जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा॥१३॥

वेद, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण एवं इतिहास आदि में मन की वृत्तियों को लगाये रखना, मेरे विचार से 'जप' है। जप के दो प्रकार कहे गये हैं, प्रथम वाचिक जप एवं द्वितीय मानसिक जप ॥ १२-१३

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः। मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः॥ १४॥

वाचिक जप के दो प्रकार माने गये हैं, प्रथम 'उच्चस्वरयुक्त' और द्वितीय 'उपांशु' (फुसफुसाहट युक्त)। इसी तरह से मानसिक जप भी 'मनन' एवं 'ध्यान' के भेद से दो प्रकार का है॥ १४॥

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते। मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥१५॥
उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्। नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत्॥१६॥

'उच्च' अर्थात् ऊँचे स्वर से किये जाने वाले जप की अपेक्षा 'उपांशु' अर्थात् फुसफुसाकर किया गया जप सहस्रगुना श्रेष्ठ कहा गया है। इसी तरह उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप सहस्रगुना अधिक उत्तम कहा गया है। उच्च स्वर से सम्पन्न किया गया जप सभी लोगों को भली-भाँति फल प्रदान करने वाला होता है,किन्तु यदि उस मन्त्र को निम्न स्तर के व्यक्तियों ने श्रवण कर लिया, तो वह व्यर्थ हो जाता है॥ १५-१६॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥१॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव। जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे॥२॥
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्। सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्॥३॥
दक्षिणेऽपि तथा सयं गोमुखं तत्प्रचक्षते। अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु॥४॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम्॥५॥

हे मुनिश्रेष्ठ! आसन नौ प्रकार के कहे गये हैं-स्वस्तिक आसन, गोमुख आसन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, मुक्तासन, भद्रासन, मयूरासन तथा सुखासन। घुटनों एवं जाँघों के मध्य में अपने दोनों पैरों को भली-भाँति रखकर ग्रीवा, मस्तिष्क एवं शरीर को समान भाव से बनाये रखना ही स्वस्तिक आसन कहा जाता है; इस आसन का प्रतिदिन अभ्यास करने का प्रयास करना चाहिए। दाहिने पैर के टखने को बायीं ओर के पीछे भाग तक तथा बायें पैर के टखने को दाहिनी ओर के पीछे भाग तक ले जाये, इसी को गोमुखासन कहते हैं। हे विप्र! दोनों पैरों को दोनों जाँघों पर रखकर उनके अँगूठों को दोनों हाथों से पीठ के पृष्ठ भाग से पकड़ ले। इसी को पद्मासन कहा जाता है। यह आसन सभी तरह के रोगों का भय हटाने वाला है॥ १-५॥

दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम्॥६॥

बायें पैर को दाहिनी जाँघ के ऊपर रखे तथा शरीर को सीधा करके बैठे, यही वीरासन है॥ ६॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत्॥
हस्तौ जानौ समास्थाप्य स्वाङ्गुलींश्च प्रसार्य च। व्यक्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिःसदा॥ ६.१-३॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वों में ले जाकर उन्हें इस तरह से रखे कि बायें टखने से सीवनी का दक्षिण पार्श्व और दक्षिण टखने से सीवनी का बायाँ पार्श्व सटा रहे। तदनन्तर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर अँगुलियों को फैला दे। मुँह खोलकर एकाग्रचित्त हो घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखे यही सिंहासन है॥ ६-१ से ३॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम्॥७॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में लगाकर रखे तथा दोनों हाथों से पार्श्वभाग एवं पैरों को दृढ़तापूर्वक बाँध करके एकाग्रतापूर्वक बैठे, इस स्थिति को भद्रासन कहते हैं। यह समस्त विषयुक्त रोगों का शमन करने वाला है॥ ७॥

निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत्॥८॥

सीवनी की सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, दायें टखने से बायें को दबाने पर मुक्तासन होता है॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं तथोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने॥ ९॥

हे मुने! मेढ्र (जननेन्द्रिय) के ऊपर बायें टखने को रखे तथा उसके ऊपर दायाँ टखना रखे, यह स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है॥ ९॥

कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः। भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः॥ १०॥

समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११॥

हे मुनि श्रेष्ठ! अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में लगाये। तत्पश्चात् सिर एवं पैरों को ऊँचा करके आकाश में दण्ड के सदृश स्थित हो जाये। यह मयूर आसन है, जो सभी तरह के पापों को विनष्ट करने वाला है॥ १०-११॥

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते। तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥ १२॥

जिस किसी भी तरह से बैठने में सुख एवं धैर्य बना रहे, वह आसन ही सुखासन है। अशक्त साधकों को इसी सुखासन का ही आश्रय लेना चाहिए॥ १२॥

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्। अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु॥१३॥

जिसने इन आसनों को जीत लिया, उसने सम्पूर्ण त्रिलोकी को अपने वश में कर लिया। अतः हे साङ्कृते! इसी विधि से (योग) युक्त होकर तुम सदा ही प्राणायाम किया करो॥ १३॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

इस खण्ड में नाड़ी-परिचय, आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा का वर्णन है-

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्। देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्॥ १॥

त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते। गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः॥ २॥

देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते। कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥ ३॥

हे साङ्कृते! यह मानव शरीर अपने हाथ की माप से ९६ अंगुल का होता है। इस शरीर के मध्य भाग में अग्नि का स्थान निहित है। उसका वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के सदृश कहा गया है। उसकी त्रिकोण आकृति है। यह हमने यथार्थ बात ही तुमसे बतायी है। गुदा भाग से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अंगुल नीचे की ओर जो स्थान है, उसे ही मनुष्य-देह का मध्य भाग समझना चाहिए। वही मूलाधार है, पर हे मुनिश्रेष्ठ! इस स्थान से नौ अंगुल ऊर्ध्व में कन्द स्थान है॥ १-३॥

चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव। कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥४॥

उस कन्द की लम्बाई-चौड़ाई चार-चार अंगुल की है तथा उसकी आकृति मुर्गी के अण्डे की भाँति है। वह ऊपर से चमड़े आदि के द्वारा सुसज्जित है॥ ४॥

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव। कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता॥ ५॥

हे मुनि पुङ्गव! उस कन्द स्थान के मध्य भाग में नाभि केन्द्र है, ऐसा योग विज्ञानियों ने कहा है। कन्द के बीच में जो नाड़ी स्थित है, उसका सुषुम्ना के नाम से उल्लेख किया गया है॥ ५॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो हि मुनिपुङ्गव। द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश॥ ६॥

सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती। पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी॥ ७॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी पयस्विनी। शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश॥ ८॥

उस कन्द के चारों तरफ ७२ हजार नाड़ियों का समूह स्थित है। उनमें सुषुम्ना, पिङ्गला, इड़ा, सरस्वती, वरुणा, पूषा, यशस्विनी, हस्तिजिह्वा, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी— ये चौदह नाड़ियाँ प्रमुख मानी गयी हैं॥ ६-८॥

आसां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा। ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥९॥

इन चौदह नाड़ियों में भी प्रथम तीन ही सबसे प्रमुख हैं। इन तीनों में भी एक ही नाड़ी सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। शास्त्रज्ञों ने इसे 'ब्रह्मनाड़ी' के नाम से सम्बोधित किया है॥ ९॥

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत। सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता॥ १०॥

पीठ के मध्य में जो वीणा दण्ड (मेरुदण्ड) नाम से प्रसिद्ध है, वही हड्डियों का समुच्चय है। इससे होकर सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्क तक पहुँचती है॥ १०॥

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम॥११॥
यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः। परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता॥१२॥

हे मुनीश्वर! नाभि-कन्द से दो अंगुल नीचे कुण्डलिनी स्थित है। इसको अष्टप्रकृति रूपा (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारयुक्त) कहा गया है। वह वायु—चेष्टा, जल और अन्न आदि का अवरोध करके सदैव नाभिकन्द के पार्श्वों को चारों ओर से आच्छादित करके विद्यमान रहती है॥ ११-१२॥

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने। सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥ १३॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते। गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः॥ १४॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः। कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता॥१५॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता। पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी॥१६॥

हे मुने ! यह अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढक कर रखती है। सुषुम्ना के बायें भाग में इड़ा और दाहिने भाग में पिङ्गला स्थित है। सरस्वती और कुहू सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं। इड़ा के पृष्ठ भाग में गान्धारी तथा पूर्व भाग में हस्तिजिह्वा प्रतिष्ठित है। पिङ्गला के पृष्ठ भाग में पूषा और पूर्व भाग में यशस्विनी स्थित है। कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य विश्वोदरी नाड़ी विद्यमान है। यशस्विनी और कुहू के मध्य भाग में वरुणा नाड़ी स्थित है। पयस्विनी नाड़ी की स्थिति पूषा और सरस्वती के बीच में कही गई है॥ १३-१६॥

गान्धारायाःसरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी। अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा॥१७
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः। अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव। यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ १९॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः। पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः॥२०॥

शङ्खिनी का स्थान गान्धारी और सरस्वती के बीच में है। अलम्बुसा नाभिकन्द के मध्य भाग से होती हुई गुदा तक व्याप्त है। सुषुम्ना का द्वितीय नाम राका है, उसके पूर्वी क्षेत्र में कुहू नाम की नाड़ी है। यह नाड़ी ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर प्रतिष्ठित है। इसकी स्थिति दाहिनी नासिका तक कही गयी है। इड़ा नामक नाड़ी बायीं नासिका तक स्थित है। यशस्विनी नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक व्याप्त है। पूषा पिङ्गला के पृष्ठ भाग से होती हुई बायें नेत्र तक पहुँचती है और पयस्विनी विद्वज्जनों द्वारा दाहिने कान तक फैली हुई बताई गयी है॥

सरस्वती तथा चोर्ध्वगता जिह्वा तथा मुने। हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ २१॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते। गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः॥

सरस्वती नाड़ी ऊपर की ओर जिह्वा तक व्याप्त है। हस्तिजिह्वा नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक फैली है। शङ्खिनी नाम की नाड़ी बायें कान तक स्थित है। वेदज्ञों के द्वारा गान्धारी नाड़ी की स्थिति बायें नेत्र तक व्याप्त बतायी गई है॥ २१-२२॥

विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता। प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च॥२३॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः॥ २४॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत। प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने॥ २५॥

विश्वोदरा की स्थिति नाभिकन्द के बीच में कही गयी है। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण वायु बताये गये हैं। ये प्राण समस्त नस-नाड़ियों में संचरित होते हैं। इन दसों में प्राण आदि पाँच वायु ही प्रमुख हैं। हे मुने! इन पाँचों में भी प्राण और अपान को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है॥ २३-२५॥

आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि। प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम॥ २६॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु। उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत॥ २७॥
व्यानः श्रोताक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि। प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव॥२८॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि। समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः॥ २९॥

इनमें से प्राण नामक वायु नासिका एवं मुख के बीच में, नाभि के मध्यभाग में और हृदय में हमेशा निवास करता है। अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जाँघों, घुटनों, समस्त उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियों में भी सदा स्थित रहता है। व्यान वायु दोनों कानों, दोनों चक्षुओं, दोनों कन्धों, दोनों टखनों, प्राण के स्थानों और कंठ में भी व्याप्त रहता है। उदान वायु की स्थिति दोनों हाथों एवं पैरों में समझनी चाहिए। समान वायु निःसन्देह समस्त शरीर में फैल कर रहता है॥ २६-२९॥

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः। निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम्। समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव॥ ३१॥

नाग आदि पाँचों वायु त्वचा एवं अस्थि में निवास करते हैं। हे साङ्कृते! उच्छ्वास अर्थात् श्वास को अन्दर की ओर खींचना, निःश्वास अर्थात् श्वास को बाहर निकालना तथा खाँसना, ये तीनों कार्य प्राण वायु के द्वारा सम्पन्न होते हैं। मल-मूत्रादि कार्य का परित्याग अपान वायु के द्वारा होता है। हे मुनि पुङ्गव! समान वायु सम्पूर्ण शरीर को सम अवस्था में बनाये रखता है॥ ३०-३१॥

उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः। व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः॥ ३२॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य महामुने। धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते॥ ३३॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च। देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम्॥ ३४॥

उदान वायु ही ऊर्ध्व की ओर प्रस्थान करता है। वेदान्त तत्व के विशेषज्ञ विद्वज्जनों का मानना है कि व्यान वायु ही ध्वनि का व्यञ्जक है। हे श्रेष्ठ मुने! डकार, वमन आदि का कार्य नाग वायु के द्वारा पूर्ण होता है। इस सम्पूर्ण देह में सौन्दर्य आदि का सम्पादन धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है। आँखों का खोलना एवं

मूँदना आदि कूर्म नामक वायु की प्रेरणा से सम्पन्न होता है। कृकर (कृकल) नामक वायु के द्वारा भूख-प्यास की इच्छा होती है तथा तन्द्रा-आलस्य देवदत्त वायु का कार्य कहा गया है॥ ३२-३४॥

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः। पिङ्गलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने॥
पूषाधिदेवता प्रोक्तो वरुणा वायुदेवता। हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत्॥३६॥

हे मुनीश्वर! सुषुम्ना नाड़ी के अधिष्ठाता देव शिव और इड़ा के देवता विष्णु तथा पिङ्गला नाड़ी के देवता भगवान् ब्रह्माजी हैं। सरस्वती नाड़ी के देवता विराट् हैं। पूषा नाड़ी के देवता पूषा नाम से युक्त आदित्य हैं। वरुणा के वायु देवता हैं। हस्तिजिह्वा नाड़ी के देवता वरुण हैं॥ ३५-३६॥

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा। अलम्बुसाया अम्ब्वात्मा वरुणः परिकीर्तितः॥
कुहोः क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता। शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः॥३८॥

हे श्रेष्ठ मुने! भगवान् भास्कर यशस्विनी नाड़ी के देवता हैं। अलम्बुसा नाड़ी के देवतां भी जलस्वरूप वरुण कहे गये हैं। कुहू नाड़ी की अधिष्ठात्री क्षुधा देवी हैं। गान्धारी के देवता चन्द्रमा हैं। ऐसे ही शंखिनी नाड़ी के देवता भी चन्द्रमा को कहा गया है। पयस्विनी नामक नाड़ी के देवता प्रजापति हैं॥ ३७-३८॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः। इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने॥ ३९॥
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर। पिङ्गलायामिडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत्॥ ४०॥
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः। इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसंक्रमणं मुने॥ ४१॥
दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः। इडापिङ्गलयोः संधिं यदा प्राणः समागतः॥ ४२॥
अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर।

विश्वोदरा नाड़ी के देवता भगवान् अग्निदेव हैं। हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षे! चन्द्रमा देवता सदा ही इड़ा नामक नाड़ी में और सूर्य देवता पिङ्गला नाम वाली नाड़ी में संचरित होते हैं। पिङ्गला नाड़ी से इड़ा नाड़ी में जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे विद्वज्जन महर्षियों ने उत्तरायण की संज्ञा प्रदान की है। इसी भाँति इड़ा से पिङ्गला में जो प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे दक्षिणायन के नाम से व्यक्त किया है। जब प्राण इड़ा और पिङ्गला की संधि में गमन करता है, तब उस समय हे महर्षे! इस देह के अन्दर अमावस्या कही गयी है॥ ३९-४२॥

मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम॥ ४३॥ तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम।
प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा॥ ४४॥ तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत्॥ ४५॥ इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः। सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर॥ ४६॥ यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः। तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव॥ ४७॥

जब प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है, तब हे विद्वद्वर! तपस्वियों ने आद्य विषुव नामक योग का प्राकट्य कहा है। हे श्रेष्ठ मुने! जब प्राणवायु सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होता है, तब उस समय श्रेष्ठ तत्त्व का विचार करते हुए महान् ऋषियों ने अन्तिम विषुव योग की स्थिति कही है। सभी उच्छ्वास एवं निःश्वास मास-संक्रान्ति माने गये हैं। हे तत्त्वज्ञ शिरोमणे! जब प्राण इड़ा नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के पास आ जाता है, तब उस समय को चन्द्रग्रहण-काल कहा जाता है। ठीक ऐसे ही जब प्राण पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के क्षेत्र में आता है, तभी हे मुने! सूर्य ग्रहण का समय होता है॥ ४३-४७॥

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके। वाराणसीं महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥ ४८ ॥

अपने इस देह में सिर के स्थान पर श्रीशैल नाम से युक्त तीर्थ स्थित है। ललाट में केदार तीर्थ प्रतिष्ठित है। हे महाप्राज्ञ! नासिका एवं भृकुटी (दोनों भौंहों) के बीच में काशीपुरी स्थित है॥ ४८ ॥

कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे। चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम्॥ ४९ ॥

स्तन-द्वय मण्डलों में कुरुक्षेत्र का निवास है। कमलरूपी हृदय में तीर्थराज प्रयाग स्थापित है। हृदय के मध्यक्षेत्र में चिदम्बर तीर्थ विद्यमान है। मूलाधार-स्थान में कमलालय तीर्थ की स्थापना की गयी है॥ ४९ ॥

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्। करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥५० ॥

जो ऐसे श्रेष्ठ आत्मतीर्थ का त्याग करके बाह्य क्षेत्र के तीर्थों में भ्रमण करता रहता है, वह हाथ में रखे हुए बहुमूल्य रत्न का परित्याग करके काँच को ही ढूँढ़ता रहता है॥ ५० ॥

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु। अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता ॥ ५१ ॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान्। योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥५२ ॥

भावतीर्थ ही सबसे उत्तम तीर्थ है। पत्नी एवं पुत्री दोनों का ही आलिङ्गन किया जाता है; किन्तु दोनों में भावना का बहुत अधिक अन्तर होता है, पत्नी का आलिङ्गन दूसरे भाव से और पुत्री का आलिङ्गन दूसरे भाव से किया जाता है। योगी मनुष्य अपने आत्मा के तीर्थ में ज्यादा से ज्यादा विश्वास एवं श्रद्धा रखने के कारण जल से पूर्ण तीर्थों एवं काष्ठ आदि से विनिर्मित देव-प्रतिमाओं की शरण नहीं प्राप्त करते॥ ५१-५२ ॥

बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने। आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम्॥ ५३ ॥

बाह्य जगत् के तीर्थ से अन्तः क्षेत्र के तीर्थ अति श्रेष्ठ हैं, ये महातीर्थ हैं, इन आन्तरिक तीर्थों के समक्ष अन्य सभी तीर्थ व्यर्थ हैं॥ ५३ ॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥ ५४ ॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा। वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥ ५५ ॥

शरीर के अन्दर निवास करने वाला प्रदूषित चित्त बाहर के तीर्थों में गोते लगाने मात्र से पवित्र नहीं होता; क्योंकि मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार पवित्र जल में धोया जाये, तब भी उस घड़े के अन्दर मदिरा के रहने से वह अपवित्र ही बना रहता है। अपने शरीर में ही जो विषुव योग, उत्तरायण एवं दक्षिणायन काल तथा सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण हैं, उनमें नासिका एवं भौंहों के मध्य में वाराणसी आदि तीर्थों में भावनापूर्वक स्नान करके मनुष्य पवित्र हो सकता है॥ ५४-५५ ॥

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम्। भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव॥ ५६ ॥

अज्ञानियों के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ज्ञानयोगियों के चरणों का जल ही उत्तम तीर्थ रूप है॥ ५६

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा। शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥ ५७ ॥

इसी शरीर में भगवान् शिव के रूप में परमात्मसत्ता विद्यमान है। इन भगवान् शिव को न जानने वाला मूढ़, अज्ञानी मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काष्ठ एवं पत्थर में ही सदैव भगवान् को ढूँढ़ता रहता है॥ ५७ ॥

अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते। हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥ ५८ ॥

हे साङ्कृते! जो अपने अन्तःकरण में नित्य-सतत स्थिर रहने वाले मुझ परमात्मतत्त्व की अवहेलना करके केवल मात्र बाहर की स्थूल प्रतिमाओं का ही सेवन करता है, वह हाथ में रखे हुए अन्न के ग्रास को फेंककर केवल अपनी कोहनी ही चाटता रहता है॥ ५८ ॥

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः। अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥५९

योगी मनुष्य अपनी आत्मा में ही भगवान् शिव का दर्शन करते हैं, प्रस्तर खण्ड एवं काष्ठ से विनिर्मित प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदयों में भगवान् शिव के प्रति भावना जाग्रत् करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गयी है॥ ५९॥

अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्। प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति॥ ६०॥
नाडीपुञ्जं सदाऽसारं नरभावं महामुने। समुत्सृज्यात्मनाऽऽत्मानमहमित्येव धारय ॥ ६१॥

जिससे भिन्न न कोई पूर्व (कारण) है और न ही पर (कार्य) ही है। जो सत्यस्वरूप, अनुपम और प्रज्ञान घनस्वरूप है,ऐसे उस आनन्दमय ब्रह्म को जो स्वयं अपने आत्मा के रूप में दृष्टिपात करता है,वही वास्तव में यथार्थ देखता है। हे महामुने! यह मानव शरीर नाड़ियों का समुदाय मात्र है,जो सदा ही सारहीन है। इसके प्रति आत्मभाव का परित्याग करके बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करो कि मैं स्वयं ही परमात्म स्वरूप हूँ॥

अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम्। आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति॥ ६२॥
विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥ ६३॥

जो इस शरीर में रहकर भी इससे सदा ही पृथक् है, महान् है, व्यापक है तथा सभी का ईश्वर है, उस आनन्दस्वरूप शाश्वत परमात्म तत्त्व को जानकर बुद्धिमान् धीर पुरुष कभी भी शोक को नहीं प्राप्त होता। हे श्रेष्ठ मुने! सद्ज्ञान के बल से भेदजनक अज्ञान का विनाश हो जाने पर कौन आत्मा एवं ब्रह्म में मिथ्या भेद की बात कहेगा॥ ६२-६३॥

॥ पञ्चमःखण्डः ॥

यहाँ आत्मशोधन की विधि कही जा रही है-

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धिं समासतः। यथा शुद्ध्या सदा ध्यायञ्जीवन्मुक्तो भवाम्य-हम्॥१॥

साङ्कृति ने भगवान् दत्तात्रेय जी से पुनः प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! नाड़ी शोधन की क्या प्रक्रिया है, यह मुझे ठीक तरह से एवं अति संक्षेप में बताइये, जिससे कि मैं नाड़ी शुद्धिपूर्वक सदा ही परमात्मतत्त्व का ध्यान करते हुए इस जीवन से मुक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ १॥'

सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः। विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः॥२॥

तब भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा-हे साङ्कृते! मैं अति संक्षेप से नाड़ी शुद्धि का वर्णन आपके सम्मुख करता हूँ। शास्त्रादि के विधि वाक्यों द्वारा जो भी कर्म कहे गये हैं, उनके प्रति कर्त्तव्य बुद्धि से संलग्न रहना चाहिए। कामना एवं फलप्राप्ति के संकल्प को त्याग देना चाहिए॥ २॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः। स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः॥३॥

योग के यम आदि आठों अंगों का उपयोग करते हुए शान्त एवं सत्य परायण रहना चाहिए। अपने आत्मा के ध्यान में सतत लगा रहे तथा ज्ञानी विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित होकर उनसे भली-भाँति शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए॥ ३॥

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा। मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः॥ ४॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा। समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम्। स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥ ६॥

तदनन्तर पर्वत शिखर, नदी-तट, बिल्व वृक्ष के पास में, एकान्त वन अथवा और अन्य किसी पवित्र एवं सुन्दर प्रदेश में आश्रम का निर्माण कर चित्त को एकाग्र करके वहाँ निवास करे। तत्पश्चात् वहाँ पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके किसी भी आसन से बैठे। ग्रीवा, मस्तक तथा शरीर को समान भाव से रखकर मुख बंद किये हुए ठीक प्रकार से स्थित हो जाये। नासिका के अग्र भाग पर चन्द्रमण्डल की भावना करनी चाहिए तथा वहाँ ओंकार रूप प्रणव के बिन्दु में तुरीयस्वरूप परमात्मतत्त्व को अमृत का स्रोत बहाते हुए आँखों के द्वारा प्रत्यक्ष देखना चाहिए। उस समय चित्त को पूर्णरूप से एकाग्र रखना चाहिए॥ ४-६॥

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीयुतम् ॥७॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत्। पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥८॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत्। पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥९॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च। षट्कृत्वा विचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु॥ १०॥

इसके पश्चात् इड़ा नाड़ी के द्वारा अर्थात् नासिका के बायें छिद्र से प्राणवायु को आकृष्ट करके उदर में ग्रहण कर लेना चाहिए और शरीर के बीच में प्रतिष्ठित जो अग्नि तत्त्व है, उसी का चिन्तन करते हुए ऐसा भाव करना चाहिए कि उस वायु का सान्निध्य प्राप्त करके अग्निदेव ज्वालाओं के सहित मानो प्रज्वलित हो उठे हों। इसके पश्चात् प्रणव के बिन्दु एवं नाद से संयुक्त होकर अग्नि-बीज (रं) का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद श्रेष्ठ साधक पिङ्गला नाड़ी (अर्थात् नासिका के दक्षिण छिद्र के द्वारा) प्राणवायु को विधिपूर्वक धीरे-धीरे बहिर्गमन करे। फिर पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से पहले की भाँति प्राणवायु को अपने अन्दर धारण करके अग्नि बीज का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा फिर उसे शनैः-शनैः बाहर निकाल देना चाहिए। इस तरह से इस प्रक्रिया द्वारा एकान्त में लगातार तीन-चार दिनों तक अथवा प्रतिदिन त्रिकाल समय की संध्याओं में तीन-चार अथवा छः बार यह क्रिया करनी चाहिए॥ ७-१०॥

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः। शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः॥ ११॥
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्। यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत्॥ १२॥

इस क्रिया से उस (साधक) की नाड़ी पवित्र हो जाती है और इस नाड़ी शुद्धि के पृथक् चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, जठराग्नि तीव्र हो उठती है और अनाहत नाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। ये लक्षण ही सिद्धि के प्राकट्य का बोध कराते हैं। जब तक ये लक्षण दिखाई न दें, तब तक इसी तरह अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ११-१२॥

अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत्। आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयम्प्रभः॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम्। अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः॥ १४॥

अथवा इन सभी का परित्याग करके मात्र आत्मा की शुद्धि का ही अनुष्ठान करना चाहिए। यह आत्मा सदैव पवित्र, नित्य, सुखरूप एवं स्वप्रकाशित है। अज्ञानता के कारण ही इसमें मलिनता प्रतीत होती है। ज्ञान होने पर यह सदैव विशुद्ध रूप से प्रकाशित होने लगता है, जो मनुष्य अज्ञानरूपी मल एवं कीचड़ को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही मनुष्य परम पवित्र है; जो मनुष्य ज्ञान की उपेक्षा करके लौकिक कर्मों में आसक्त रहता है, वह पवित्र नहीं है॥ १३-१४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

यहाँ प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल एवं विनियोग का वर्णन है-

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम्। प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥१॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः। स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥२॥

भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा- 'हे साङ्कृते! अब मैं तुम्हारे लिए प्राणायाम का क्रमशः वर्णन करता हूँ, इस विधि का श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। इन तीनों पूरक, कुम्भक एवं रेचक के द्वारा जो प्राणों का संयम पूर्ण होता है, उसे ही प्राणायाम बतलाया गया है। प्रणव के तीन वर्ण अकार, उकार तथा मकार हैं, उन्हें क्रमशः पूरक, रेचक एवं कुम्भक से समानता रखने वाला कहा गया है। इन तीनों वर्णों के समूह को ही ओंकार बताया गया है। इस कारण से प्राणायाम भी प्रणव रूप ही है'॥ १-२॥

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥३॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया। उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥४॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः। पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥५॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः। प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥६॥

इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु को शनैः-शनैः अन्दर की ओर खींचकर के उदर में धारण करे, उस (पूरक) काल में सोलह मात्राओं का प्रयोग करे और श्रेष्ठ अकार का ध्यान करे। तदनन्तर उदर में भरी हुई उस वायु को कुछ समय तक अन्दर धारण किये रहे। उस समय चौंसठ मात्राओं जितना समय लगाकर उकार प्रधान ॐकार का जप करे। जब तक सम्भव हो सके, तब तक जप में मन को एकाग्र करके वायु को आत्मसात् किये रहे। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओं का समय लगाकर मकार प्रमुख ॐकार के भाव सहित पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से शनैः-शनैः धारण की हुई वायु को बाहर निकाले। इस प्रकार से यह एक प्राणायाम हुआ। इसी भाँति नित्य अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ३-६॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा। अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥७॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं संजपन्वशी। उकारमूर्तिं स ध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥८॥

इसके पश्चात् पुनः पिङ्गला नाड़ी के द्वारा वायु को शनैः-शनैः अन्दर खींचते हुए षोडश मात्रा से अकार स्वरूप प्रणव का ध्यान मन को एकाग्र करके करना चाहिए। जब वायु पूरी तरह से उदर में भर जाये, तब विद्वज्जन मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए चौंसठ मात्राओं से उकार के ध्यान सहित ॐकार का जप करते हुए वायु को अन्दर धारण किये रहे॥ ७-८॥

मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम्। एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥९॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर। एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद् ज्ञानवान्भवेत्॥ १०॥

तत्पश्चात् बत्तीस मात्राओं से 'मकार' का ध्यान करते हुए इड़ा नाड़ी के द्वारा शनैः-शनैः वायु को बाहर निकाल दे। बुद्धिमान् मनुष्य इसी तरह बार-बार अभ्यास करे। हे श्रेष्ठ मुनीश्वर! इस तरह से प्रत्येक दिन प्राणायाम का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार से प्रतिदिन अभ्यास करते रहने से साधक मात्र छः मास में ही ज्ञान-सम्पन्न हो जाता है॥ ९-१०॥

वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत्। योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥११॥

प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति। बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥१२॥
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्। बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥ १३॥

एक वर्ष तक लगातार ऊपर कही हुई विधि से प्राणायाम करने से साधक को अविनाशी ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अतः प्राणायाम का नित्य ही अभ्यास किया जाना चाहिए। जो पुरुष योग के अभ्यास में संलग्न रहकर सदैव अपने धर्म के पालन में लगा रहता है। वह पुरुष प्राणायाम के द्वारा ही सद्ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त करके संसार-सागर से मुक्त हो जाता है। वायु को बाहर से खींचकर उदर के भीतर भरे जाने की प्रक्रिया को पूरक कहा गया है। जल से परिपूर्ण कुम्भ की भाँति वायु को उदर में स्थिर किये रहना ही कुम्भक कहा जाता है और उसे फिर उदर से बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहा जाता है॥ ११-१३॥

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः। कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमंविदुः ॥ १४॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसंभवः। संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥१५॥

जिस प्राणायाम के करने से शरीर में पसीना आ जाए, उसे सभी प्राणायामों में निम्न श्रेणी का माना गया है। यदि प्राणायाम करते समय शरीर काँपने लगे, तो उसे मध्यम श्रेणी का प्राणायाम कहा गया है और यदि प्राणायाम के समय में देह ऊर्ध्व की ओर उठता हुआ-सा लगे, तो उसे उत्तम कोटि का माना गया है। जब तक ऊपर की ओर उठने की अनुभूति वाले प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त न हो जाए, तब तक पूर्वोक्त विधि से दोनों तरह के प्राणायामों का ही अभ्यास करता रहे। उपर्युक्त उत्तम श्रेणी के प्राणायाम के पूर्ण हो जाने पर ज्ञानी मनुष्य सुखी हो जाता है॥ १४-१५॥

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत। चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योति र्व्यवस्थितः ॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति। प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ १७॥
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता। रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥ १८॥

हे सुव्रत! प्राणायाम के द्वारा चित्त पवित्र हो जाता है एवं उस पवित्र चित्त में अन्तः प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व का धीरे-धीरे साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम में सदा रत रहने वाले श्रेष्ठ पुरुष का प्राण चित्त के साथ संयुक्त होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है और उसका शरीर क्रमशः धीरे-धीरे ऊपर को उठने लगता है। इस प्राणायाम से ज्ञान को प्राप्त करके वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर विशेषरूप से कुम्भक का ही प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए॥ १६-१८॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्। मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥ १९॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ २०॥

(इस प्रकार से नित्य प्राणायाम करने वाला योगी) सभी तरह के पापों से मुक्त होकर श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह मनुष्य मन के सदृश वेगवान् एवं मनोजयी हो जाता है, बालों का पकना एवं अन्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम में अटूट निष्ठा रखने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अतः मनुष्य को पूर्ण प्रयत्नशील रहते हुए प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए॥ १९-२०॥

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत। संध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाऽथवासदा ॥२१
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च। नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत् ॥ २२॥

हे सुव्रत! अब हम प्राणायाम के विनियोग (विशेष प्रयोग) तुम्हें बतलाते हैं। दोनों सन्ध्याओं के समय में अथवा ब्राह्ममुहूर्त में या फिर मध्याह्न काल में सतत बाह्य क्षेत्र की प्राण वायु को अन्दर खीचकर उदर में

धारण करने तथा उदर में, घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग में, नाभि के मध्य में तथा पैर के अँगूठे में उस प्राण वायु को स्थापित करे ॥ २१-२२॥

सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः। नासाग्रधारणाद्वापि जितो भवति सुव्रत॥ २३॥
सर्वरोगनिवृत्तिः स्यान्नाभिमध्ये तु धारणात्। शरीरलघुता विप्र पादाङ्गुष्ठनिरोधनात् ॥ २४॥

ऐसा मनुष्य सभी तरह के रोगों से मुक्त हो जाता है और सौ वर्ष तक जीवन धारण किये रहता है। हे श्रेष्ठ व्रत को निष्ठापूर्वक निभाने वाले मुनीश्वर! घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग में धारण करने से प्राण वायु पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। नाभि के मध्य भाग में प्राण वायु को धारण करने से सभी तरह के रोगों का शमन हो जाता है। हे विप्र! पैर के अँगूठे में वायु को स्थित करने से शरीर में हल्कापन आ जाता है॥२३-२४॥

जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः। श्रमदाहविनिर्मुक्तो योगी नीरोगतामियात् ॥२५॥
जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत्। पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥ २६॥

योग का अभ्यास करने वाला जो भी पुरुष सदा जिह्वा के माध्यम से वायु को खींचकर उसे सदा पीता रहता है, वह थकावट एवं जलन की पीड़ा से मुक्त होकर सदैव नीरोग बना रहता है। जिह्वा के द्वारा प्राणवायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल भाग में ही रोक दे तथा शान्त भाव से (भावनात्मक) अमृतपान करे। ऐसा करने से वह मनुष्य सभी तरह के सुखों को प्राप्त कर लेता है॥२५-२६॥

इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत्। यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः॥ २७॥

जो पुरुष इड़ा नाड़ी के द्वारा वायु को खींच करके उसे भौंहों के मध्य में स्थिर करता है तथा (भावनापूर्वक) विशुद्ध अमृत को ग्रहण करता है, वह सभी तरह के रोगों से मुक्त हो जाता है॥ २७॥

इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा पिङ्गलयैव च। नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥ २८॥

वैदिक तत्त्व के ज्ञाता हे साङ्कृति मुने! इड़ा एवं पिङ्गला नाड़ी के द्वारा वायु को खींचकर उसे यदि नाभि (केन्द्र) में स्थिर किया जाए, तो उससे भी पुरुष सभी तरह की व्याधियों से मुक्त हो जाता है॥२८॥

मासमात्रं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम्। अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत्॥ २९॥
वातजाः पित्तजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः। नासाभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वन्द्वे निरोधयेत्॥३०॥
नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात्। तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थितम्॥३१॥
शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं हि सांकृते।

यदि एक महीने तक प्रातः, मध्याह्न एवं सायं सन्ध्याओं के समय जिह्वा द्वारा शनैः-शनैः वायु को अन्दर खींचकर एवं पूर्वोक्त अमृतपान की भावना करते हुए उस प्राणवायु को नाभि में स्थित किए रहे, तो वात और पित्त से प्रादुर्भूत सभी प्रकार के दोष निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा वायु को अन्दर खींचकर उसे यदि दोनों नेत्रों में स्थित किया जाए, तो नेत्र के समस्त रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा कानों में उसे रोकने से कान के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही वायु को भीतर खींचकर यदि उसे मस्तक में स्थापित करे, तो सिर के रोगों का शमन हो जाता है। हे साङ्कृते! ये सभी मैंने आप से सत्य बातें बतलायी हैं॥ २९-३१॥

स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा॥ ३२॥ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः।
हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि च॥ ३३॥ अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी।
नासापुटावधानाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै॥ ३४॥ आनन्दाविर्भवो यावत्तावन्मूर्धनि धारणात्।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने॥ ३५॥

चित्त को एकाग्र करके, स्वस्तिक आसन से बैठे एवं ॐकार रूपी प्रणव का जप करते हुए शनैः-शनैः अपान वायु को ऊर्ध्व की ओर उठाये तथा कान आदि इन्द्रियों को दोनों हाथों से ठीक तरह से दबाकर रखे। दोनों अँगूठों से दोनों कानों को आच्छादित कर ले, दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों नेत्रों को मूँद ले एवं अन्य दो-दो अँगुलियों से नासिका के दोनों छिद्रों को ढक ले; इस तरह से ऊपर की समस्त इन्द्रियों को ढक करके उस वायु को तब तक मस्तिष्क में धारण किये रहे, जब तक आनन्दरूपी अमृत का प्राकट्य न हो जाए। हे महामुने! इस प्रकार की क्रिया करने से ही प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है॥ ३२-३४॥

ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ। शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्येमेघध्वनिर्यथा॥ ३६॥
शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्त्रवणं यथा। पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखो भवेत्॥ ३७॥

हे पापरहित साङ्कृते! जब प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाये, तो सर्वप्रथम शंखध्वनि की भाँति एक अतिगम्भीर नाद होने लगता है। बीच में वह नाद मेघ की गर्जना की भाँति भी होने लगता है। जब प्राण मस्तिष्क के बीच में ठीक तरह से प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उस समय पर्वत से गिरते हुए झरने की कल-कल ध्वनि की भाँति शब्द होने लगता है। हे महामते! इसके अनन्तर योगी अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करते हुए साक्षात् आत्मोन्मुख हो जाता है॥ ३६-३७॥

पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात्संसारनिह्नुतिः। दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत्स्थिरम्॥ ३८॥
सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः। जान्वोरधःस्थितां सन्धिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम्॥३९॥

तत्पश्चात् आत्मतत्त्व का पूर्ण ज्ञान होता है तथा उस योग के प्रभाव से सांसारिक बन्धनों का पूरी तरह से विनाश हो जाता है। (अब प्राण वायु को अपने वश में करने का एक दूसरा उपाय बतलाते हैं) गुदा एवं लिङ्ग के मध्य में जो नाड़ी स्थित है, उसे ही सीवनी कहा गया है; क्योंकि सीवनी ही शरीर के अर्धांशों को मिलाकर एक करती है। ज्ञानी पुरुष अपने दायें एवं बायें टखने से उस सीवनी को स्थिर भाव से दबाकर बैठे एवं घुटनों के नीचे जो जोड़ है, उसमें भगवान् त्र्यम्बक नामक ज्योतिर्लिङ्ग की भावना करनी चाहिए॥ ३८-३९॥

विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः। लिङ्गनालात्समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने॥ ४०॥
प्रणवेन नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान्। मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत्॥ ४१॥
निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम्। पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति॥ ४२॥

इसके साथ ही माता सरस्वती एवं गणेशजी का भी चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् बिन्दुयुक्त ॐकार का जप करते हुए लिङ्ग के छिद्र द्वारा अग्रभाग की ओर से प्राणवायु को खींच करके मूलाधार के मध्य में स्थित करना चाहिए। वहाँ उस प्राणवायु को रोकने से वहाँ की अग्नि प्रदीप्त होकर कुण्डलिनी पर आरूढ़ हो जाती है। इसके पश्चात् उस अग्नि को साथ लेकर वायु सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से ऊर्ध्व की ओर गमन करने लगती है॥ ४०-४२॥

एवमभ्यसतस्तस्य जितो वायुर्भवेद्वशम्। प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पनं मुनिपुङ्गव॥ ४३॥
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले। एवमभ्यसतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति॥ ४४॥

हे मुनि श्रेष्ठ! इस प्रकार अभ्यास करने से वायु पर विशेष रूप से विजय की प्राप्ति हो जाती है। सर्वप्रथम शरीर से पसीने का बहिर्गमन होना, तत्पश्चात् शरीर में कम्पन होना और इसके बाद शरीर का ऊर्ध्व की ओर उठना-ये सभी प्राण वायु पर विजय प्राप्ति के संकेत हैं। इस तरह से अभ्यास करने वाले व्यक्ति के समस्त मूल रोग विनष्ट हो जाते हैं॥ ४३-४४॥

भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते। पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च॥ ४५॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम्। पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥ ४६॥

हे साङ्कृते! (इस प्राणायाम से) भगन्दर एवं अन्य सभी तरह के रोगों का भी शमन हो जाता है। बड़े से बड़े एवं छोटे से छोटे सभी तरह के पातक भी विनष्ट हो जाते हैं। पापों के विनष्ट हो जाने से चित्त परम पवित्र एवं दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है। तदनन्तर हृदय में ब्रह्मा आदि समस्त देवों के लोकों तक में मिलने वाले भोगजनित सुखों के प्रति वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है॥ ४५-४६॥

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्। तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्॥४७
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति॥ ४८॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः। अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥ ४९॥
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः। क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः॥ ५०॥
रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥५१॥

इस भाँति से जो भी मनुष्य इस संसार-सागर से विरक्त होता है, उसे कैवल्य मोक्ष के साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस ज्ञान से नित्य कल्याणमय परमात्मदेव का तत्त्व ज्ञात कर लेने के कारण सभी तरह के बन्धनों का समूल विनाश हो जाता है। जिस पुरुष ने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृत का रसास्वादन प्राप्त कर लिया, वह समस्त कर्मों का परित्याग करके उसी ओर चल पड़ता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस सम्पूर्ण विश्व को ज्ञानस्वरूप ही कहते हैं, जिन मनुष्यों की दृष्टि कुत्सित है, वे दूसरे अज्ञानी मनुष्य इस विश्व को विषय रूप में ही देखते हैं। आत्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष आदि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने से पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप आदि के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है॥ ४७-५१॥

॥ सप्तमःखण्डः ॥

यहाँ प्रत्याहार के विविध प्रकार एवं फल का वर्णन किया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने। इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः॥ १॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते। यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः॥ २॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः। यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्॥ ३॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः॥ ४॥

हे महामुने! अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करता हूँ। विषय-भोगों में स्वभाववश विचरण करने वाली समस्त इन्द्रियों को बलात् वहाँ से वापस लाने का जो प्रयत्न है, उसी को प्रत्याहार कहते हैं। 'मनुष्य जो कुछ भी देखता है', वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार समझते हुए ब्रह्म में चित्त को एकाग्र कर लेना ही प्रत्याहार है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। मनुष्य मृत्यु पर्यन्त जो कुछ भी पवित्र अथवा अपवित्र कार्य करता है, वह सभी कुछ परमात्मा को ही समर्पित कर देना चाहिए, यह भी प्रत्याहार कहा गया है अथवा नित्य एवं काम्य सभी तरह के कर्मों को भगवान् की सेवा-प्रार्थना के भाव से करना चाहिए॥१-४॥

काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत्॥

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम्। उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत्॥ ६॥
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत्। कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत्॥७॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे। तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत्॥ ८॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा। एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९॥

सभी काम्य कर्मों के द्वारा भगवान् का पूजन करने को भी प्रत्याहार कहते हैं अथवा वायु को एक जगह से खींचकर दूसरी जगह पर प्रतिष्ठित करे, यथा-दाँत के मूलभाग से वायु को खींचकर के उसे कण्ठ में प्रतिष्ठित करे, कण्ठ से हृदय क्षेत्र में स्थिर करे, हृदय से खींचकर उसे नाभि-प्रदेश में ले जाये, नाभि प्रदेश से कुण्डलिनी में स्थापित करे, कुण्डलिनी क्षेत्र से हटाकर विद्वान् पुरुष उसे मूलाधार में रोके, तत्पश्चात् अपानवायु के स्थान से उस वायु को हटाकर कटि-प्रदेश के दोनों भागों में स्थिर करे और वहाँ से जाँघों के मध्य भाग में ले जाये। जाँघों से दोनों घुटनों में, घुटनों से पिण्डलियों में और पिण्डलियों से पैर के अँगूठे में उस प्राणवायु को स्थापित करे। प्रत्याहार में पारंगत विद्वानों ने प्राचीनकाल से उपर्युक्त इसी क्रिया को ही प्रत्याहार के नाम से बतलाया है॥ ५-९॥

सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत। नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥१०॥
पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम्। पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥ ११॥
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके। भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत्॥ १२॥

इस भाँति प्रत्याहार की क्रिया में रत बुद्धिमान् पुरुष के सभी पाप एवं जन्म-मृत्युरूप समस्त व्याधियाँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं। स्वस्तिक-आसन का आश्रय प्राप्त कर ज्ञानी मनुष्य शान्त चित्त से स्थान ग्रहण करे तथा नासिका के दोनों छिद्रों से प्राणवायु को भीतर खींचकर, उसे पैर से लेकर सिर तक के सभी स्थानों में पूरा कर दे। दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकेन्द्र में, हृदय के मध्य भाग में, कण्ठ के मूल में, तालु में, भौंहों के बीच में, ललाट में एवं सिर में वायु को प्रतिष्ठित करे, (यह वायु प्रतिष्ठितात्मक प्रत्याहार है)॥ १०-१२॥

देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः। आत्मनाऽऽत्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः। एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम्॥१४॥

ज्ञानी पुरुष चित्त को एकाग्र करके शरीर से आत्म-बुद्धि को अलग कर उसे, खुद ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्प स्वरूप में अपने अन्तरात्मा में स्थित करे। वेदान्ततत्त्व के ज्ञाता विद्वानों ने इसी को ही वास्तविक प्रत्याहार कहा है। इस प्रकार प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

यहाँ धारणा के भेद-उपभेद का वर्णन है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत। देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याऽऽकाशं तु धारयेत्॥ १॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥ २॥
हयरावलकाराख्यं मंत्रमुच्चारयेत्क्रमात्। धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥ ३॥

हे सुव्रत! अब मैं तुम्हारे लिए पञ्च धारणाओं के सम्बन्ध में बतलाता हूँ। अपने शरीर के अन्दर जो आकाश तत्त्व स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राण में बाह्य वायु तत्त्व

की, जठरानल में बाह्य अग्नितत्त्व की, देहगत जल के अंश में बाह्य जल तत्त्व की एवं शरीर के पार्थिव भाग में ही सम्पूर्ण पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए तथा हर एक तत्त्व की धारणा के समय क्रमशः हं,यं,रं,वं,लं-इन बीजमंत्रों का उच्चारण करे। इस धारणा को सर्वोत्तम बताया है। यह पापों का विनाश करने वाली क्रिया है॥

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते। हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः। ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥५॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्॥ ६॥

पैर से लेकर घुटने तक का भाग पृथिवी का अंश कहा गया है। घुटने से लेकर गुदा तक का भाग जल का अंश बतलाया गया है। गुदा भाग से ऊपर हृदय प्रदेश तक का क्षेत्र अग्नि अंश माना गया है। हृदय से ऊपर भौंहों के मध्यभाग तक वायु का अंश निश्चित किया गया है और मस्तक का क्षेत्र आकाश तत्त्व का अंश कहा गया है। हे महाप्राज्ञ! पृथ्वी तत्त्व के अंश में ब्रह्माजी का, जल-तत्त्व के अंश में विष्णुजी का, अग्नि तत्त्व के अंश में महादेवजी का, वायु तत्त्व के अंश में ईश्वर का और आकाश तत्त्व के अंश में सदाशिव का चिन्तन करना चाहिए॥ ४-६॥

अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव। पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम्॥ ७॥
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये। ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे॥ ८॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् । साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रणवे मनः।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत्॥ ९॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अब तुम्हारे लिए एक और दूसरी धारणा का वर्णन करता हूँ। ज्ञानी मनुष्य अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा) में सभी पर शासन करने वाले बोधमय, आनन्दस्वरूप तथा कल्याणमय अविनाशी परमात्मतत्त्व की प्रत्येक दिन धारणा करे। इससे सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। कार्यस्वरूप ब्रह्मा आदि का अपने-अपने कारण में लय करके सभी के परम कल्याण, अनिर्वचनीय एवं बुद्धि से परे जो अव्यक्त परमात्मतत्त्व है, ऐसे उन श्रेष्ठ परमात्मा को अपनी आत्मा में धारण करे अर्थात् ये साक्षात् पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही अन्तर्यामी आत्मा के रूप में विद्यमान हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय करे और इस प्रकार से आत्म धारणा करते समय अपने मन को सभी कलाओं से युक्त प्रणवस्वरूप परमात्मा में ही स्थित करे। इसके साथ ही मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को भी अपने-अपने विषयों से अलग कर के आत्मा में नियोजित कर दे॥ ७-९॥

॥ नवमः खण्डः ॥

यहाँ दो प्रकार के ध्यान तथा उनका फल बताया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम्॥ १॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥ २॥

अब मैं जगत् के बन्धनों का विनाश करने वाले ध्यान का वर्णन करता हूँ, जो समस्त संसाररूपी रोग के एक मात्र औषध रूप, ऊर्ध्वरेता, विषम नेत्रों वाले, योगीश्वरों के भी ईश्वर, विश्वरूप एवं महेश्वररूप हैं, उन ऋत एवं सत्यस्वरूप अविनाशी परब्रह्म परमात्मा का अपनी आत्मा के रूप में आदरपूर्वक ध्यान करे। अपनी बुद्धि में यह भाव पूर्ण निष्ठा से प्रतिष्ठित करे कि वह अविनाशी परमात्मस्वरूप परब्रह्म मैं ही हूँ॥ १-२॥

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम्। अत्यर्थममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥३॥
तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम्। न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥४॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत। अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥५॥

ध्यान का दूसरा भेद इस प्रकार है-जो सत्यरूप, सर्वेश्वर, ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप, अनुपम, अतिनिर्मल, नित्य एवं आदि, मध्य तथा अन्त रहित है, स्थूल प्रपञ्च से वह सर्वथा परे है, आकाश से अलग, स्पर्श में आने वाली वायु से भी विलक्षण है, चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले अग्नितत्त्व से भी हमेशा पृथक् है, रसस्वरूप जल एवं गन्धस्वरूप पृथिवी से भी सर्वथा विलक्षण है, जिसकी स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, जो अनुपम है, शरीर से अतीत है, ऐसे उस सत्-चित्, आनन्दमय एवं अन्तरहित परब्रह्म का अपनी आत्मा के रूप में चिन्तन करे, बुद्धि के द्वारा यह निश्चित करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं स्वयं ही हूँ। इस तरह से किया हुआ ध्यान मोक्ष प्रदान करने वाला होता है॥ ३-५॥

एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः। क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः॥ ६॥

इस प्रकार से ध्यान के अभ्यास में जो भी बुद्धिमान् पुरुष लगा रहता है, उसे वेदान्त वर्णित ब्रह्म तत्त्व का निःसन्देह ही विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है-इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ६॥

॥ दशमः खण्डः ॥

यहाँ समाधि एवं उसके फल का वर्णन प्रस्तुत है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम्। समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥ १॥

अब मैं इन समस्त सांसारिक-बन्धनों का विनाश कर देने वाली समाधि का वर्णन करता हूँ। परमात्मा तथा जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्राकट्य होना ही समाधि है॥ १॥

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥२

यह आत्मा अविनाशी, नित्य, सर्वव्यापी, एकरस एवं सर्वदोषहीन है। यह एक होते हुए भी माया द्वारा उत्पन्न हुए भ्रम के कारण इसकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। यथार्थ में उसमें कोई भी भेद नहीं है॥२॥

तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः। यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः॥ ३॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना। नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि॥४॥
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः। इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते॥५॥

इस कारण केवल अद्वैत ही सत्य स्वरूप है। प्रपञ्च या संसार नामक कोई भी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार आकाश को घटाकाश एवं मठाकाश भी कहा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य एक ही परमात्मा को जीव एवं ईश्वर-इन दो रूपों में मानते हैं। न मैं शरीर हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रिय समूह हूँ और न ही मैं मन हूँ, सदैव साक्षीरूप में स्थित होने के कारण मैं एक मात्र शिवस्वरूप परमात्म तत्त्व हूँ। हे श्रेष्ठ मुने! इस प्रकार की जो श्रेष्ठ निश्चयात्मिका बुद्धि है, उसी को यहाँ समाधि कहा गया है॥ ३-५॥

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन। यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः॥ ६॥
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते। तस्मान्मनः पृथङ्नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥ ७॥

मैं ही वह परमेश्वर हूँ, संसार के बन्धनों में पड़ा हुआ जीव नहीं हूँ, अतः मुझसे भिन्न किसी वस्तु का किसी भी काल में अस्तित्व नहीं रहा है। जिस प्रकार फेन और लहरें समुद्र से उठते हीं फिर समुद्र में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मुझसे ही प्रकट होता है और मुझमें ही विलीन हो जाता है। इसलिए सृष्टि का कारणभूत मन भी मुझसे पृथक् नहीं है। इस जगत् और माया का भी मुझसे भिन्न अस्तित्व नहीं है॥ ६-७॥

यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः। स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परा मृतम्॥८॥

इस प्रकार से जिस पुरुष को यह परमात्मा अपनी आत्मा के रूप में अनुभव होने लगता है, वह परम पुरुषार्थरूप साक्षात् परम अमृतस्वरूप परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा। योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम्॥ ९॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १०॥

जिस समय योगी के मन में सर्वत्र व्यापक आत्म चैतन्यस्वरूप का अपरोक्ष रूप में अनुभव होने लगता है, तब उस समय वह स्वयं ही परमात्मस्वरूप में स्थापित हो जाता है। जब वह श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य सब भूत-प्राणियों को अपने में ही अवलोकन करता है तथा अपने को ही सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है॥ ९-१०॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति। एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवतिकेवलः॥११॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः। मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः॥१२॥

जब समाधिस्थ पुरुष परमात्मा से एकत्व प्राप्त करके अपने से अलग किसी भी भूत-प्राणी को नहीं देखता, तब वह केवल परमात्मरूप से ही प्रतिष्ठित हो जाता है। जब पुरुष केवल अपनी आत्मा को ही परमार्थ सत्यस्वरूप में देखता है, सम्पूर्ण विश्व को माया का विलास मात्र मानता है, तब वह परमानन्द को प्राप्त कर लेता है॥ ११-१२॥

एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः। सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः॥१३

इस प्रकार महाज्ञानी भगवान् दत्तात्रेय जी उपदेश देकर मौन हो गये एवं मुनीश्वर साङ्कृति उस उपदेश को हृदयंगम करके अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित एवं भयमुक्त होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ १३॥

ॐ आप्यायन्तु..... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालदर्शनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ जाबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भगवान् बृहस्पति एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें प्राण विद्या का विवेचन हैं। याज्ञवल्क्य ने प्राण का स्थान, ब्रह्म सदन तथा देवयजन का एक मात्र स्थान, 'अविमुक्त' (ब्रह्मरन्ध्र-काशी) कहा है। वहीं रुद्रदेव विद्यमान रह कर अन्तिम क्षणों में तारक ब्रह्म का उपदेश देकर जीव को विमुक्त करते हैं। द्वितीय खण्ड में अत्रि मुनि एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें 'अविमुक्त' क्षेत्र को भृकुटि-मध्य में बताया गया है। इसकी उपासना से प्राप्त ज्ञान के आधार पर दूसरों को आत्मज्ञान का उपदेश देना सम्भव होता है। तृतीय खण्ड में याज्ञवल्क्य द्वारा अमृतत्व प्राप्ति का उपाय बताया गया है। वह उपाय है शतरुद्रीय का जप। साधक इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। चतुर्थखण्ड में विदेहराज के द्वारा संन्यास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करने का क्रम, उसकी विधि-व्यवस्था, उसके करणीय कृत्य आदि का वर्णन किया है। पंचम खण्ड में पुनः अत्रि मुनि ने संन्यासी के यज्ञोपवीत, वस्त्र, मुण्डन, भिक्षा आदि विषयों पर याज्ञवल्क्य से मार्गदर्शन प्राप्त किया है, जिसका निष्कर्ष है, संन्यासी को मन-वाणी से पूर्णतया विषय-विकार से दूर रहना चाहिए। षष्ठ खण्ड में प्रसिद्ध संन्यासियों- संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु आदि के आचरण की समीक्षा की गई है और अन्त में दिगम्बर परमहंस का लक्षण बताया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमःखण्डः ॥

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येत तदविमुक्तमेव। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत अविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥ १ ॥

भगवान् बृहस्पति ऋषि याज्ञवल्क्य से बोले-प्राणों का कौन सा स्थान (क्षेत्र) है? इन्द्रियों के देवयजन का क्या अभिप्राय है? एवं समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा- अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। अस्तु, किसी भी स्थान पर जाने वाले को यही समझना चाहिए। वही (कुरुक्षेत्र) प्राण-स्थान इन्द्रियों का देवयजन है और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राण का उत्क्रमण होता है, उस समय रुद्रदेव तारक ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं, जिससे वह जीव अमृतत्व पाकर मोक्ष पद की प्राप्ति करता है। इसीलिए प्राणी के लिए उचित है कि वह सदैव अविमुक्त की उपासना करता रहे, उसे कभी न छोड़े। इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रतिपादित किया ॥ १ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् अत्रि मुनि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा- 'इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा को किस प्रकार जाना जा सकता है'? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि वह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है'॥ १॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नासी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति। एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेतदेवं वेदेति॥ २॥

यह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है? यह पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'यह वरणा और नासी के मध्य में विराजमान है।' अत्रि मुनि ने पुनः पूछा-यह वरणा और नासी क्या है? ऋषि ने उत्तर दिया-'समस्त इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) द्वारा किये गये पापों (दोषों) का जो निवारण करती है, वह वरणा है तथा जो समस्त इन्द्रियों द्वारा किये गये पापों को विनष्ट करती है, वह नासी है।' उनके पुनः यह पूछने पर कि इसका स्थान कौन सा है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'भृकुटी और नासिका का सन्धि स्थल ही इसका स्थान है। इसी को इस द्यु लोक और परलोक का संगम स्थल भी कहा गया है। ब्रह्मविद् इस सन्धि स्थल (भ्रू-घ्राण सन्धि) की उपासना करते हैं। अस्तु, वह अविमुक्त ही उपास्य है। इस प्रकार अविमुक्त की उपासना के फलस्वरूप जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही दूसरों को आत्मा के सन्दर्भ में उपदेश करने में समर्थ है'॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवतीति॥ १॥

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी शिष्यों ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा-किसका जप करने से अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'शतरुद्रीय जप के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। इसके द्वारा वह (साधक) मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है'॥ १॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ ह जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥ १॥

एक बार विदेहराज जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य के समीप पहुँचकर सविनय यह कहा-'हे भगवन्! मुझे संन्यास के सम्बन्ध में बताइये।' ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। उसे समाप्त करके गृहस्थ बनना चाहिए। गृहस्थ बनकर तब वानप्रस्थ (वानप्रस्थी) बनना चाहिए। वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि (विषयों से) विरक्ति हो जाये, तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ किसी भी आश्रम के पश्चात् प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास में प्रवेश किया जा सकता है। इसी प्रकार

व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अग्नि ग्रहण करके त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण करके संस्कार न किया गया हो, चाहे जो भी स्थिति हो, जब मन विषयों से पूर्ण विरक्त हो जाए, तभी प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए'॥ १ ॥

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्ह वै प्राणः। प्राणमेवैतया करोति पश्चान्त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धयरयिम् इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः। प्राणं गच्छ स्वाहेत्येव मेवैतदाह॥

(इस अवसर पर)कुछ लोग प्राजापत्य इष्टि करते हैं; किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्हें आग्नेयी इष्टि करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इसकी इष्टि करने से प्राणाभिवर्धन होता है। इसके पश्चात् त्रिधातु इष्टि करनी चाहिए। सत, रज और तम ये तीन धातुएँ हैं (सत शुक्ल वर्ण है, रज लोहित वर्ण है और तम कृष्ण वर्ण है)। इन इष्टियों के पश्चात् इस मन्त्र से अग्नि का अवघ्राण करना चाहिए-हे अग्ने! यह प्राण सामान्य कारण स्वरूप है, क्योंकि आपकी उत्पत्ति इस प्राण से ही हुई है। हे अग्ने! आप प्राण को दग्ध करने वाले हैं, आप प्रकाश और वृद्धि को प्राप्त करने वाले हैं। आप हमारी भी वृद्धि करें। जो अग्नि की योनि (अग्नि का उत्पादक) है, वह प्राण है। अतः हे अग्निदेव! आप उस प्राण में प्रविष्ट हों-यह कहकर आहुति दी जानी चाहिए ॥ २॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत्। यद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः। सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वा समुद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयं मोक्षमन्त्रस्त्रय्येवं विन्देत्। तद्ब्रह्मैतदुपासितव्यम्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥३॥

ग्राम से (गाँव के किसी श्रोत्रिय के गृह से) अग्नि को लाकर पूर्व वर्णित मन्त्र द्वारा उसका अवघ्राण करना (सूँघना) चाहिए। यदि अग्नि प्राप्त न हो, तो जल में आहुति प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि जल ही समस्त देवता रूप है। मैं समस्त देवताओं को आहुति प्रदान कर रहा हूँ, ऐसा भाव करके जल में आहुति प्रदान करके घृत युक्त उस अवशिष्ट हविष्यान्न को उठाकर ग्रहण करे। मोक्षमन्त्र तीन अक्षरों (अ उ म् - ॐ) वाला है, ऐसा जानना चाहिए। वही ब्रह्म है और वही उपासना के योग्य है। ऐसा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्य अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्यायं विधिः परिव्राजकानाम्॥ १ ॥

इसके बाद अत्रि मुनि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया-'मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है, वह ब्राह्मण किस प्रकार हो सकता है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'उसका आत्मा ही उसका यज्ञोपवीत होता है। वह जल से (तीन बार) प्राशन और आचमन करे। यह संन्यासियों (परिव्राजकों) की विधि है'॥ १ ॥

वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वाऽथ परिव्राड् - विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदित्येवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥ २॥

वीर पथ में, अनशन की स्थिति में, (गंगा आदि के) जल में प्रवेश करने पर, अग्नि प्रवेश में और महाप्रस्थान में परिव्राजक संन्यासी के लिए यही धर्म निश्चित है कि वह भगवा वस्त्र धारण करके मुण्डित होकर, अपरिग्रही बनकर, पवित्र और द्रोहरहित होकर भिक्षावृत्ति (लोकमंगल के लिए) अपनाकर जीवित रहे। यदि कोई संन्यास के लिए आतुर है, तो उसे मन और वाणी से (विषयों का) परित्याग करना चाहिए (विषयों से संन्यस्त होना चाहिए)। यह ज्ञान का पन्थ वेद प्रतिपादित है। इसीलिए संन्यासी के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि संन्यासी ब्रह्मविद् होता है। इस प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य ने यह मत प्रकट किया॥ २॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥ १॥

संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक आदि जो परमहंस संन्यासी हुए हैं, वे सभी अव्यक्त लिङ्ग अर्थात् संन्यास के चिह्नों से रहित थे। उनका आचरण भी अव्यक्त था। वे अन्दर से उन्मत्त न होते हुए भी बाहर से उन्मत्त लगते थे॥ १॥

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥ २॥

ऐसे (उपर्युक्त स्थिति वाले) संन्यासी को चाहिए कि वह त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्य (छींका भिक्षाधार पात्र), जल-पवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत आदि प्रतीकों को 'भूः स्वाहा', ऐसा कहते हुए जल में विसर्जित कर दे। इसके उपरान्त संन्यासी को आत्मा का ही अनुसन्धान करना चाहिए॥ २॥

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिन गिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नामेति॥३॥

संन्यासी (परमहंस) यथा जातरूप धारण करने वाला अर्थात् निश्छल-निःस्पृह होता है। वह निर्द्वन्द्व, अपरिग्रही, तत्त्व ब्रह्म मार्ग में निरन्तर गतिमान् तथा शुद्ध मन वाला होता है। जीवन्मुक्त होने पर भी वह प्राण धारणार्थ भिक्षा आदि के द्वारा आहार को उचित समय पर 'उदर' रूपी पात्र में डाल देता है। उसे किसी प्रकार के लाभ और अलाभ की चिन्ता नहीं होती ; अतः उन्हें समान समझता है। वह शून्य स्थल, देवगृह, तिनकों के समूह, सर्प की बाँबी (बिल), वृक्ष के मूल, कुम्हार के घर, अग्निहोत्र स्थल, नदी तट, पर्वत, खाई या गुफा, खोह और निर्झर आदि विशुद्ध प्रदेश में पूर्व घर का ध्यान न रख, ममता रहित होकर रहता है। वह सतत शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान में तल्लीन रहकर अध्यात्मनिष्ठ होकर शुभ और अशुभ कर्मों को निर्मूल करता रहता है, ऐसा (संन्यास धर्म का पालन)करते हुए जो संन्यासी देह का परित्याग कर देता है, वह परमहंस कहलाता है॥ ३॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालोपनिषत्समाप्ता॥

॥ जाबाल्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें पिप्पलाद पुत्र पैप्पलादि और भगवान् जाबालि का परम तत्त्व के विषय में प्रश्नोत्तर है।

प्रमुख प्रश्न है, तत्त्व क्या है, जीव कौन है, पशु कौन है, ईश कौन है और मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर क्रमशः जाबालि मुनि ने दिया है। अन्त में उपनिषद्-प्रतिपादित ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए प्रश्नोत्तर को विराम दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- आरुण्युपनिषद्)

अथ हैनं भगवन्त जाबालिं पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन्मे ब्रूहि परमतत्त्वरहस्यम् ॥ १ ॥ किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षोपाय इति ॥ २ ॥ स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यथाज्ञातमिति ॥ ३ ॥ पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥ ४ ॥ पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥ ५ ॥ पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥ ६ ॥ पुनः स तमुवाच तेनेशानादिति ॥ ७ ॥ पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥ ८ ॥ पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ॥ ९ ॥ पुनः स तमुवाच भगवन्कृपया मे सरहस्यं सर्वं निवेदयेति ॥ १० ॥

ऋषि पैप्पलादि (पिप्पलाद के पुत्र) ने भगवान् जाबालि से प्रश्न किया-हे भगवन्! मेरे प्रति परम तत्त्व के रहस्य का वर्णन कीजिए। तत्त्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? महर्षि जाबालि ने कहा-आपने बहुत श्रेष्ठ प्रश्न किया। जो मुझे ज्ञात है, वह सब मैं आपसे निवेदन करता हूँ। पैप्पलादि ने पूछा-यह सब आपको कहाँ से ज्ञात हुआ? जाबालि ने कहा-षडानन से ज्ञात हुआ। पैप्पलादि ने पुनः पूछा-उन (षडानन) को कहाँ से यह ज्ञान प्राप्त हुआ? जाबालि ने कहा-उन्हें यह ज्ञान ईशान से प्राप्त हुआ। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया कि उन्होंने यह कैसे प्राप्त किया? जाबालि ने उत्तर दिया कि उन्होंने (ईशान ने) उपासना के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया। (यह सुनकर) पैप्पलादि ने कहा-हे भगवन्! मुझे यह सब कुछ रहस्य सहित बताइये॥ १-१०॥

स तेन पृष्टः सर्वं निवेदयामास तत्त्वम्। पशुपतिरहंकाराविष्टःसंसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥ ११ ॥ के पशव इति पुनः स तमुवाच ॥ १२ ॥ जीवाः पशव उक्ताः। तत्पतित्वात्पशुपतिः ॥ १३ ॥ स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति। कथं तत्पतिरिति ॥ १४ ॥ स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः ॥ १५ ॥ तज्ज्ञानं केनोपायेन जायते ॥ १६ ॥ पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ॥ १७ ॥ तत्प्रकारः कथमिति। कुत्र कुत्र धार्यम् ॥१८॥

पैप्पलादि द्वारा पूछे जाने पर जाबालि ने कहा-मैं सम्पूर्ण तत्त्व कहता हूँ। स्वयं पशुपति ही अहंकार युक्त होकर संसारी जीव हो जाता है। वही पशु है। सर्वज्ञ और पञ्च कृत्यों से सम्पन्न, सर्वेश्वर ईश ही पशुपति है। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया-पशु कौन है ? जाबालि ने कहा-जीव को ही पशु कहा गया है। जीवों के पति होने के कारण उन्हें पशुपति कहते हैं। उन्होंने फिर पूछा-जीव पशु किस तरह है ? और (पशुपति) उनके पति कैसे हैं ? महर्षि जाबालि ने उत्तर दिया-जिस प्रकार घास का सेवन करने वाले, विवेक हीन, किसी अन्य के दास, कृषि आदि कार्यों में नियोजित अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करने वाले, अपने स्वामी के बन्धन में बँधे हुए गौ आदि पशु होते हैं (उसी प्रकार ये जीव भी ईश्वर के बन्धन में बँधे रहते हैं)। जैसे-उन पशुओं के स्वामी (कोई मनुष्य) होते हैं उसी प्रकार समस्त जीवों के स्वामी (पति) सर्वज्ञ, ईश्वर-पशुपति होते हैं। पैप्पलादि ने पुनः पूछा- वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? जाबालि ने कहा-विभूति धारण के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। पैप्पलादि ने पूछा-उसे धारण करने की विधि क्या है ? उसे कहाँ-कहाँ धारण करना चाहिए ?॥ ११-१८॥

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत। व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति। तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय॥ १९॥

ऋषि जाबालि ने कहा- 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्म मन्त्रों से भस्म का संग्रह करे, फिर 'अग्निरिति' इस मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे, 'मानस्तोक' (यजु० १६.१६) इस मंत्र से उसे उठाये, तत्पश्चात् उसे जल से गीला करके 'त्र्यायुषम्' (यजु० ३.६२) इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्षस्थल, कन्धों पर धारण करे। इसके बाद तीन त्र्यायुष और तीन त्र्यम्बक (यजु० ३.६०) मन्त्रों से तीन रेखायें खींचे। वेदों में यह शाम्भव व्रत वेदवादियों के द्वारा बतलाया गया है। इसका (इस व्रत का) आचरण करने वाले मुमुक्षु का पुनर्जन्म नहीं होता॥ १९॥

[यहाँ जिन मन्त्रों का संक्षिप्तांश दिया है, उनमें जो मन्त्र यजुर्वेद के हैं, उनके सन्दर्भ दे दिये गये हैं। शेष के मन्त्र इस प्रकार हैं- सद्योजातादि पाँच मन्त्र- ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवेभवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः॥ १॥ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः। श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः। कालाय नमः कल विकरणाय नमो बल विकरणाय नमः॥ २॥ बलाय नमो बल प्रमथनाय नमः। सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः॥ ३॥ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्व शर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥४॥ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥५॥ (रुद्राष्टाध्यायी) अग्निरिति-ॐ अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। जलमिति भस्म। स्थलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। सर्व ँ ह वा इदं भस्म। मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि इति॥ (आह्निक सूत्रावलिः पृ. ६५)]

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति । त्रिपुण्ड्रधारणस्य त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च॥ २०॥

प्रमाण के विषय में पूछने पर सनत्कुमार ने बताया कि त्रिपुण्ड्र धारण करने के लिए तीन आड़ी रेखायें सम्पूर्ण ललाट के मध्य, भौंहों और नेत्रों तक खींचे॥ २०॥

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति। याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनसवनं विष्णुर्देवो देवतेति। याऽस्य

तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति॥ २१॥

जो इसकी प्रथम रेखा है, वह गार्हपत्य अग्नि रजोगुण 'अ' कार भूलोक, अपनी आत्मा की क्रिया - शक्ति स्वरूप, ऋग्वेद रूप और प्रातः सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं प्रजापति हैं। जो इसकी द्वितीय रेखा है, वह दक्षिणाग्नि स्वरूप, सत्त्वगुण रूप, 'उ' कार रूप, अन्तरिक्ष स्वरूप, अपनी अन्तरात्मा की इच्छा-शक्ति रूप, यजुर्वेद रूप और माध्यन्दिन संवनरूप है, इसके देवता विष्णु हैं। जो इसकी तृतीय रेखा है, वह आहवनीय अग्निरूप, 'म' कार रूप, तमोगुण स्वरूप, द्युलोकरूप, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति स्वरूप, सामवेद रूप तथा तृतीय सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं महादेव (शिव) हैं॥ २१॥

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति। स सर्वान् वेदानधीतो भवति। स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते॥ इति॥ २२॥ ॐ सत्यमित्युपनिषत्॥ २३॥

जो विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी या यति भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण करता है, (पूर्वमंत्र में दर्शाये गये त्रिपुण्ड्र के मर्म को आत्मसात् करता है।) वह महापातकों और उपपातकों से विमुक्त हो जाता है। वह समस्त वेदों का अवगाहन करने वाला, समस्त देवताओं का ध्यान करने वाला, समस्त तीर्थों के स्नान का पुण्य प्राप्त करने वाला और सकल रुद्र मन्त्रों का जप कर्त्ता हो जाता है। उसका (ऐसा करने वाले का) इस जगत् में पुनरावर्तन नहीं होता, पुनरावर्तन नहीं होता। यह सत्य है (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ २२-२३॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः॥

॥ इति श्रीजाबाल्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ तुरीयातीतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसे तुरीयातीतावधूतोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में पितामह ब्रह्माजी तथा आदिनारायण का प्रश्नोत्तर विद्यमान है, जिसमें पितामह ब्रह्माजी ने अपने पिता आदिनारायण से तुरीयातीत-अवधूत का मार्ग पूछा है। आदिनारायण ने इस मार्ग पर चलने वालों की दुर्लभता बताते हुए अवधूत का आचरण-व्यवहार,चिन्तन-मनन आदि की वह कार्यपद्धति बताई है, जिस पर चल कर व्यक्ति अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस उपनिषद् की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोक पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच। तमाह भगवान्नारायणो योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो नतु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते। महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य हंसः परमहंसो भूत्वा स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा दण्डकमण्डलुकटिसूत्रकौपीनाच्छादनं स्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्व-पुण्ड्रादिकं विहाय लौकिकवैदिकमप्युपसंहृत्य सर्वत्र पुण्यापुण्यवर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्य वासनात्रयपूर्वकं निन्दाऽनिन्दागर्वमत्सर-दम्भदर्पेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा स्ववपुः कुणपाकारमिव पश्यन्नयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या प्राणसंधारणं कुर्वन्यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य स्वरूपं गोपयित्वा ज्येष्ठाऽज्येष्ठत्वानपलापकः सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्योऽस्तीति देवगुह्यादिध-नमात्मन्युपसंहृत्य दुःखेन नोद्विग्नः सुखेन नानुमोदको रागे निःस्पृहः सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः सर्वेन्द्रियोपरमः स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्म-प्राभवमननुस्मरन्त्यक्तवर्णाश्रमाचारः सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः सर्वत्र सर्वदा संचारशीलो देहमात्रावशिष्टो जलस्थलकमण्डलुः सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्नसंभाषणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बम-वलम्ब्य स्वात्मनिष्ठानुकूलेन सर्वं विस्मृत्य तुरीयातीतावधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥

(एक बार) समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा ने अपने पिता आदिनारायण के निकट जाकर उनसे पूछा-भगवन् तुरीयातीत अवधूत का मार्ग कौन सा है और उसकी कैसी स्थिति होती है?

भगवान् नारायण ने उनसे कहा-अवधूत पथ पर चलने वाले इस लोक में दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते, यदि एकाध होता भी है, तो वह नित्य पवित्र, वैराग्य मूर्ति, ज्ञानाकार और वेद पुरुष होता है, ऐसा विद्वज्जन मानते हैं। ऐसा महापुरुष अपने चित्त को मुझ में अवस्थित रखता है और मैं उसी में स्थित होता हूँ। वह प्रारम्भ में कुटीचक होता है, तत्पश्चात् बहूदकत्व प्राप्त करके हंसत्व का अवलम्बन लेता है। हंस होकर फिर परमहंस बनता है। वह निजस्वरूप के अनुसन्धान द्वारा समस्त प्रपञ्चों के रहस्य को जानकर, दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन वस्त्र और विधिपूर्वक की जाने वाली नित्य क्रियाओं को जल में विसर्जित कर देता है और दिगम्बर होकर जीर्ण वल्कल और अजिन (मृग) चर्म के भी परिग्रह को छोड़कर समस्त प्रकार का निषेध करके (अमन्त्रवत् होकर), क्षौर कर्म (केश-कर्तन-दाढ़ी बाल आदि बनवाने), अभ्यङ्ग स्नान (उबटन लगाकर स्नान करने) तथा ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर तिलक) लगाने को भी छोड़कर, वैदिक और लौकिक कर्मों का उपसंहार करके, सर्वत्र पुण्य और अपुण्य को भी त्याग कर ज्ञान और अज्ञान को भी छोड़ देता है। वह शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी), सुख-दुःख, मान-अपमान को भी जीत लेता है। वह शरीर की तीनों वासनाओं सहित निन्दा-अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प,इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया और आत्म संरक्षण आदि को (भावाग्नि में) जलाकर, अपनी काया को मुर्दे की तरह देखता हुआ, प्रयत्न और नियम के बिना लाभ और हानि को समान करके, गोवृत्ति से (गौ की तरह) जो कुछ मिल गया, उसी में सन्तोष करके प्राण धारण किए रहता है। वह सब प्रकार से लालचरहित होकर समस्त विद्याओं और पाण्डित्य को भस्मीभूत करके, अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुए, छोटे-बड़े के भाव को (बाह्य व्यवहार में) पूर्ववत् (अज्ञानी के समान) बनाये रखता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वात्मक रूप अद्वैत की कल्पना करके उसका यह मानना होता है कि मेरे अतिरिक्त कुछ और नहीं है। वह देव रहस्य (गुह्य) आदि धन को अपने अन्दर समेट करके (अर्थात् देव रहस्यों को अपने में गोपनीय करके) न दुःख में उद्विग्न होता है और न सुख में प्रसन्न होता है। वह राग में स्पृहा नहीं रखता और न शुभ-अशुभ किसी बात से स्नेह रखता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने पूर्व के आश्रम, विद्या, धर्म, प्रभाव का स्मरण नहीं करता और वर्णाश्रम आचार का परित्याग कर देता है। दिन और रात के प्रति समान भाव रखने के कारण वह कभी सोता नहीं (अर्थात् सदैव जाग्रत् रहकर सावधान रहता है)। वह सतत सर्वत्र विचरणशील रहता है। उसका शरीर मात्र अवशिष्ट रहता है (अर्थात् वह सदैव ब्रह्मरूप होकर शरीर में रहता है और शरीर द्वारा व्यवहार करता है)। जलस्थल (सरोवर-कूप आदि) उसका कमण्डलु होता है। वह सदा अनुन्मत्त रहता है, किन्तु बाहर से बालक,उन्मत्त और पिशाच आदि के समान एकाकी विचरण करता हुआ किसी से सम्भाषण नहीं करता और अपने वास्तविक रूप के ध्यान द्वारा निरालम्ब का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मनिष्ठा की अनुकूलता से (अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर) सब को भुला देता है। इस प्रकार से जो तुरीयातीत अवधूत के वेश वाला सतत अद्वैत निष्ठा परायण होकर 'प्रणव' भाव में निमग्न होकर शरीर का परित्याग करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, यही इस उपनिषद् का प्रतिपादन है॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति तुरीयातीतोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ द्वयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है, यह तथ्य अभी अज्ञात है। इस उपनिषद् में कुल सात मन्त्र हैं, जिसमें 'द्वय' की उत्पत्ति और स्वरूप का बड़े ही रहस्यमय ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

ॐ अथातः श्रीमद्द्वयोत्पत्तिः। वाक्यो द्वितीयः। षट्पदान्यष्टादश। पञ्चविंशत्यक्षराणि। पञ्चदशाक्षरं पूर्वम्। दशाक्षरं परम्। पूर्वो नारायणः प्रोक्तोऽनादिसिद्धो मन्त्ररत्नः सदाचार्यमूलः।

अब श्रीमद्द्वय की उत्पत्ति विवेचित की जाती है (इसकी महत्ता वर्णित की जाती है)। द्वितीय वाक्य है। षट्पद अष्टादश संख्या वाले हैं। इसमें पच्चीस अक्षर हैं। पन्द्रह अक्षर पहले और दस अक्षर बाद में हैं। पूर्व में नारायण को अनादि सिद्ध कहा गया है, जो सदाचार के मूल और मंत्रों में रत्न स्वरूप हैं।

[यह उपनिषद् श्रीमद् (श्रीसम्पन्न) द्वय (दो) की उत्पत्ति के संकल्प के साथ प्रारम्भ होता है। 'वाक्य' को द्वितीय कहने से स्पष्ट होता है कि प्रथम 'अक्षर' को माना गया है। अक्षर अविनाशी-अव्यक्त भी है, जो सदैव से है, अतः प्रथम है; वाक्य उसकी अभिव्यक्ति होने से द्वितीय है। ऋषि ने उस प्रथम या पूर्व को अनादिसिद्ध-मन्त्ररत्न नारायण कहा है, इस आधार पर वह प्रथम अक्षर 'ॐ' कहा जा सकता है। ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति अक्षर या नारायण है, वह द्वितीय वाक्य या आचार्य रूप गुरु का मूल है। इस द्वितीय आचार्यरूप गुरु का विवेचन आगे के मन्त्रों में किया गया है।]

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदामन्त्राश्रयः शुचिः ॥ १ ॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषवित्। एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ २ ॥

जो आचार्य वेद सम्पन्न, मंत्रों का ज्ञाता, मंत्रों का भक्त, मंत्रों का आश्रय लेने वाला, पुराणज्ञ, विशेषज्ञ, पवित्र, ईर्ष्यारहित, विष्णु भक्त और गुरु भक्त है, ऐसे लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति को 'गुरु' कहते हैं ॥१-२॥

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ॥ ३ ॥

जो शास्त्रों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से चुनता है (समझता है) और सदाचार की न केवल स्थापना करता है, वरन् स्वयं भी वैसा ही आचरण (सदाचरण) करता है, उसे आचार्य कहते हैं ॥ ३ ॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ ४ ॥

गुरु शब्द में 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ उसका (अन्धकार का) निरोधक है। (अज्ञान के) अन्धकार को रोकने के कारण ही (अन्धकार रोकने वाले व्यक्ति को) गुरु कहते हैं ॥ ४ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ॥ ५ ॥

गुरु ही परम ब्रह्म है, गुरु ही परागति है, गुरु ही परम विद्या है और गुरु को ही परम धन कहा गया है ॥

गुरुरेव परः कामः गुरुरेव परायणः। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥ ६ ॥

गुरु ही सर्वोत्तम अभिलषित वस्तु है, गुरु ही परम आश्रय स्थल है तथा परम ज्ञान का उपदेष्टा होने के कारण ही गुरु महान् (गुरुतर) होता है ॥ ६ ॥

यस्सकृदुच्चारणः संसारविमोचनो भवति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ ७ ॥

'गुरु' शब्द का उच्चारण एक बार भी कर लेने से संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके (गुरु उच्चारण से) सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। फिर वह कदापि इस संसार में पुनरागमन नहीं करता, कभी पुनरावर्तन नहीं करता, यह सत्य है। जो इसे ठीक प्रकार समझता है (उसे सभी फल प्राप्त होते हैं) ॥ ७ ॥

॥ इति द्वयोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें परिव्राजक-संन्यासी के सिद्धान्तों, आचरणों आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके नाम से ही प्रकट है कि इस उपनिषद् के उपदेष्टा देवर्षि नारदजी हैं, जो परिव्राजकों (परितः व्रजन्ति इति परिव्राजकः) के सर्वोत्कृष्ट आदर्श हैं।

इस उपनिषद् के कुल नौ प्रखण्ड हैं, जिन्हें 'उपदेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रथम उपदेश में शौनक आदि अनेक ऋषियों ने देवर्षि नारद जी से संसारबन्धन से मुक्ति का उपाय जानना चाहा है, उसी के उत्तर में नारद जी ने विस्तार से वर्णाश्रम धर्म का विवेचन किया है। द्वितीय उपदेश में शौनक जी ने 'संन्यास' की विधि के विषय में नारद जी से पूछा है। तृतीय उपदेश में नारदजी ने संन्यास का सच्चा अधिकारी कौन है? यह प्रश्न पितामह से पूछा है। इसके बाद आतुर संन्यास का विवेचन किया गया है। चतुर्थ-पंचम उपदेश में संन्यास धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म ग्रहण करने की शास्त्रीय विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही संन्यासी के भेद भी वर्णित किए गए हैं। षष्ठ उपदेश में तुरीयातीत पद की प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक (संन्यासी) की जीवनचर्या पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सातवें उपदेश में संन्यास धर्म के सामान्य नियमों का तथा कुटीचक, बहूदक आदि संन्यासियों के विशेष नियमों का उल्लेख किया गया है। अष्टम उपदेश में प्रणवानुसन्धान के क्रम में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम नवें उपदेश में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है, साथ ही आत्मवेत्ता संन्यासी का लक्षण बताकर उसके द्वारा परमपद प्राप्त करने की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोपदेशः ॥

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वैरः शान्तो दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैःप्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैःस्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरोगणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वेऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ॥ १ ॥

एक बार परिव्राजकों में सर्वश्रेष्ठ देवर्षि नारद जी समस्त लोकों में भ्रमण करते हुए अत्यन्त पुण्यदायी स्थानों एवं तीर्थ स्थलों में गये। वे समस्त स्थल उनके शुभागमन से और भी अधिक पवित्र हो गये। उन सभी तीर्थों के दर्शन मात्र से ही उन देवर्षि ने अपने चित्त की शुद्धि प्राप्त की। उन देव ऋषि का मन अत्यधिक शान्त था, सभी इन्द्रियाँ उनके वश में थीं, वे सभी तरफ से विरक्त थे तथा उनके मन में किसी भी जीव के प्रति द्वेष-

भाव नहीं था। वे सभी तरफ से विरक्त हो, स्वयं के स्वरूप के अनुसंधान में लगे हुए थे। भ्रमण करते-करते वे नैमिषारण्य में आये, जो नियम-संयम से आनन्दित करने के कारण विशेष गणना करने योग्य पवित्र तीर्थ है। उस तीर्थ में अनेकों ऋषि-मुनि निवास करते थे। उन देवर्षि नारद जी ने उस पुण्य भूमि का दर्शन किया, वहाँ वैराग्य का बोध कराने वाले विशेष वीणा के स्वर झंकृत हो रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से परे रहकर भगवान् की वीणा द्वारा मधुर कथा के गीतों में रस लेते थे। उन देवर्षि के गीतों का श्रवण करके समस्त स्थावर-जंगम प्राणिसमुदाय आनन्द से झूम उठता था। उनका भक्ति रस से परिपूर्ण संगीत मनुष्य, पशु, देवता, किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सरा आदि को भी आकृष्ट कर रहा था। उस समय उस सुप्रसिद्ध स्थल पर बारह वर्षीय सत्र-याग सम्पन्न किया जा रहा था। उस महान् यज्ञ में समस्त देवगण, तपस्वीजन, ज्ञान-वैराग्य से ओत-प्रोत शौनक आदि महर्षि जन सम्मिलित हुए। उन महर्षिजनों ने परम भागवत देवर्षि नारद को आया देखकर अतिभव्य स्वागत-सत्कार किया। उनके चरणों में मस्तक झुकाया तथा उन्हें सर्वश्रेष्ठ आसन पर प्रतिष्ठित किया। तदनन्तर समस्त महर्षिजन अपने-अपने आसनों पर सुशोभित हुए, फिर शौनक आदि ऋषियों ने उनसे नम्रतापूर्वक प्रश्न किया-हे देवर्षे! संसार के बन्धनों से मुक्ति का क्या उपाय है? कृपा करके हमें यह बताने का अनुग्रह करें॥ १॥

इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधं गार्हस्थ्यं चतुर्विधं वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसंपन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ २॥

उन शौनकादि महर्षिजनों के इस प्रकार प्रश्न करने पर उन त्रिलोक-प्रसिद्ध देवर्षि नारद जी ने कहा-श्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत पुरुष यदि उपनयन संस्कार में संस्कृत न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उसका विधिवत् उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराये। तदनन्तर चवालीस संस्कारों से सम्पन्न होकर तथा अपने मनोनुरूप गुरु के समीप आश्रम में प्रतिष्ठित हो। वहाँ (आश्रम में) गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए सर्वप्रथम अपनी (वेद की) शाखा का अध्ययन करे। तदनन्तर क्रमानुसार समस्त विद्याओं का अभ्यास करते हुए बारह वर्षों तक गुरु सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे। इसके पश्चात् क्रमशः पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ-धर्म का तथा पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थ धर्म का विधिवत् पालन करना चाहिए। प्रबुद्धजन चार तरह का ब्रह्मचर्य बतलाते हैं, गार्हस्थ्य छः प्रकार का तथा वानप्रस्थ चार तरह का बतलाया गया है। इन सभी आश्रमों का भलीभाँति अभ्यास करते हुए उन-उन आश्रमों के सभी कर्मों का समुचित अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् साधन चतुष्टय से युक्त होकर सम्पूर्ण विश्व से ऊपर उठकर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सभी तरह की आशा का परित्याग करे और वासनाओं एवं एषणाओं का भी सर्वथा त्याग कर दे। इसके बाद सभी के प्रति वैरभाव का परित्याग करके मन एवं इन्द्रियों को वश में रखते हुए संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए तथा संन्यास आश्रम में रहकर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार से चिन्तन में लीन हुआ जो पुरुष शरीर का परित्याग करता है वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। यही उपनिषद् (गूढ़ रहस्य युक्त विशिष्ट ज्ञान) है॥ २॥

॥ द्वितीयोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन् संन्यासविधिं नो ब्रूहीति तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठावरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यं त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारं निरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम्।

भो नारद विधिवदादावनुपनीतोपनयनानंतरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवंतमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहाय निकिर विरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत्॥ १ ॥

इसके पश्चात् वे शौनक आदि महर्षिजन पुनः देवर्षि नारद जी से प्रार्थना करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! आप हम सभी को संन्यास की विधि बताने की कृपा करें। नारद जी ने उन सभी पर स्नेहपूरित दृष्टिपात किया और कहने लगे- 'हे महर्षे! संन्यास का सम्पूर्ण स्वरूप लोक पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से ही श्रवण करना श्रेयस्कर होगा।' ऐसा कहकर सत्र-याग के सम्पन्न होने पर उन सभी के सहित वे देवर्षि नारद ब्रह्मलोक में आकर परब्रह्म का चिन्तन करते हुए, नमन-वन्दन करते हुए ब्रह्माजी की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ब्रह्माजी ने सभी को यथोचित आसन पर बैठने को कहा। तत्पश्चात् नारद जी भगवान् ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए कहने लगे- 'ब्रह्मन्! आप हम सभी के गुरु एवं पिता हैं। आप सभी कुछ जानने वाले तथा सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता हैं। अतः आप हमारे एक अत्यन्त-प्रिय रहस्य को प्रकट करने का अनुग्रह करें। आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है, जो हम सभी के इच्छित रहस्य को भली प्रकार से स्पष्ट कर सके। यदि आप हमारे अभीष्ट विषय के रहस्य को बताने के लिए तैयार हों, तो सर्वप्रथम कृपा करके आप 'परिव्राजक के स्वरूप एवं क्रम (नियम) को हम सभी के समक्ष उपदेश करने की कृपा करें। देवर्षि नारद के द्वारा इस प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर ब्रह्मा जी ने एक बार देखा तथा दो घड़ी के लिए समाधिस्थ होकर जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय खोजने लगे- ''हे नारद! पुरातन समय में 'पुरुषसूक्त' में तथा उपनिषदों में वर्णित

किये गये गूढ़ रहस्यानुकूल अति श्रेष्ठ दिव्य विग्रहधारी विराट् पुरुष ने जो मेरे लिए उपदेश किया था, उसी दिव्य ज्ञान को तुम सभी के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ''।

परिव्राजक का स्वरूप एवं क्रम अत्यधिक रहस्यमय है। उसको तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। माता-पिता की आज्ञा मानने वाले सर्वश्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत बालक का यदि उपनयन संस्कार न सम्पन्न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उस बालक का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार सम्पन्न कराना चाहिए। तदनन्तर उस बालक को अपने माता-पिता के समीप न रहकर किसी उच्चकुलीन उत्पन्न सद्गुरु के आश्रम में जाकर निवास करना चाहिए। वे महान् गुरु श्रोत्रिय शास्त्र के प्रति अनुराग रखने वाले श्रद्धावान् एवं गुणवान् हों। उन समर्थ गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनके चरणों में नमन-वन्दन करते हुए उन पर सर्वस्व समर्पित कर देना चाहिए। तत्पश्चात् उन की आज्ञा प्राप्त करके बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए समस्त विद्याओं का अभ्यास करना चाहिए। अध्ययन पूर्ण हो जाने के पश्चात् कुलानुरूप किसी श्रेष्ठ कन्या से गुरु की आज्ञा प्राप्त करके विवाह करे तथा पच्चीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। अपने वंश की अभिवृद्धि हेतु पुत्रोत्पत्ति कर्म पूर्ण करे। गृहस्थ के पच्चीस वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में सतत परिव्रज्या करते हुए पच्चीस वर्ष तक निवास करे। तीनों संध्याओं में स्नान एवं दिवस के चौथे प्रहर में एक बार भोजन ग्रहण करे। ग्राम या नगर के परिचित मार्गों का परित्याग करके अकेला ही वन में विचरण करे। बिना जोती-बोई हुई भूमि में उत्पन्न हुए चावल आदि इकट्ठा करके उसी से आश्रमानुरूप धर्म का पालन करते हुए दृश्य-श्रव्यादि विषयों से विरक्त होकर चालीस संस्कारों से युक्त होकर चित्त को सर्वतोभावेन सदैव के लिए पवित्र कर ले। आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार आदि का परित्याग करके साधन चतुष्टय से परिपूर्ण हो जाए। इन सभी से युक्त होकर वह संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी बन जाता है॥१॥

॥ तृतीयोपदेशः ॥

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते अवहितः शृणु। अथ षण्ढः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशेनाधिकारिणः पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी॥ १॥

इसके पश्चात् देवर्षि नारद ने पितामह ब्रह्माजी से प्रश्न किया—भगवन्! संन्यास किसके द्वारा लिया जाता है तथा संन्यास का अधिकारी कौन है? ब्रह्माजी ने कहा—पहले यह निरूपण करते हैं कि संन्यास का अधिकारी कौन है? तत्पश्चात् संन्यास धारण करने की विधि पर प्रकाश डालेंगे। सावधानी पूर्वक सुनो—नपुंसक, पतित, अंगविहीन, अत्यधिक स्त्री आसक्त, बधिर, गूँगे, बालक, पाखण्डी, चक्री (कुचक्र रचने वाला), लिङ्गी (वेषधारण करने वाला), वैखानस (वानप्रस्थी), हरद्विज (शिवभक्त), वेतन लेकर शिक्षण करने वाले अध्यापक, शिपिविष्ट (गंजे या कोढ़ी), अग्निहोत्र न करने वाले ये सभी विरक्त होने पर भी संन्यास ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। यदि वे किसी प्रकार संन्यास ग्रहण कर भी लें, तो भी महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। जो पूर्व से (ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के समय से) ही संन्यासाश्रम के अनुसार आचरण करने वाले हैं, वे ही संन्यास धारण करने के अधिकारी हैं॥ १॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा। अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ २॥

जो दूसरों से न भयभीत होता है और न ही स्वयं दूसरों को भयभीत करता है, वही वस्तुतः परिव्राजक है, ऐसा स्मृतियों का कथन है॥ २॥

षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी। पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ॥ ३॥ चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः। द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च। एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम्॥ ४॥

नपुंसक, विकलाङ्ग, अन्धे, बालक, पातकी, पतित, परस्त्रीरत, वैखानस, हरद्विज (शिवभक्त), कुचक्र रचने वाले, लिङ्गी (वेषधारी), पाखण्डी, शिपिविष्ट, अयाज्ञिक, वेतनभोगी शिक्षक तथा दो-तीन बार संन्यास ले चुकने वाले ये सभी आतुर संन्यास लेने योग्य हो सकते हैं, क्रमशः संन्यास लेने योग्य नहीं ॥ ३-४॥

आतुरकालः कथमार्यसम्मतः। प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः। नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः॥ ५॥ आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्। मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः॥ ६॥ आतुरेऽपि क्रमे वापि प्रैषभेदो न कुत्रचित्। न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते॥ ७॥ अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत्। मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत्॥ ८॥ विध्युक्तकर्म संक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरःस्मृतः। तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने॥ ९॥

(नारद का प्रश्न) आतुर संन्यास का कौन सा समय विद्वज्जनों द्वारा माना गया है? (ब्रह्मा का उत्तर-) प्राणों के निकलने का समय जब अत्यन्त निकट हो, तभी आतुर संन्यास लेने का उचित समय माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई समय उचित नहीं है। आतुर संन्यास यदि ठीक समय पर सम्पन्न हो जाये, तो वह मुक्ति प्रदायक होता है। आतुर संन्यास ग्रहण में भी विद्वान् पुरुष शास्त्र विहित मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण करके ही संन्यास ग्रहण करे। आतुर संन्यास और क्रम संन्यास के विधान में प्रायः कोई भेद नहीं है। प्रत्येक मन्त्र कर्म से ही सम्बन्धित होता है और कर्म मन्त्र द्वारा प्रेरित होता है। मन्त्र के बिना किया गया कोई भी कर्म वस्तुतः कर्म नहीं है। अस्तु, मन्त्र का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन्त्ररहित किया गया कोई भी कर्म भस्म (राख) में छोड़ी हुई आहुति के समान व्यर्थ होता है। हे मुने! शास्त्र वर्णित कर्म के संक्षेप में करने से आतुर संन्यास की विधि पूर्ण होती है। इसलिए इस (प्रक्रिया) में मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण शास्त्र सम्मत एवं उचित है॥ ५-९॥

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि। प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत्॥ १०॥ मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथ वा जले। श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा। समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात्॥ ११॥

यदि अग्निहोत्र सम्पन्न करने वाला पुरुष किसी अन्य देश में गया हो और वहाँ उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो जल में प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करके संन्यास ग्रहण कर ले। यह प्राजापत्य याग केवल मन से करे अथवा शास्त्र विहित मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक अथवा वेदोक्त विधान से कर्मानुष्ठान पूर्वक सम्पन्न करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ले, अन्यथा वह अपने धर्म से च्युत हो जाता है॥ १०-११॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये॥१२॥ विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत्। सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः॥१३॥

जब मन में सभी पदार्थों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करनी चाहिए। इससे विपरीत आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है। जिसके मन में सम्पूर्ण वैराग्य हो, उसी बुद्धिमान् पुरुष को संन्यास लेकर प्रव्रज्या करनी चाहिए और रागवान् को घर में ही रहना चाहिए। जो अधम द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह नरक को प्राप्त होता है॥ १२-१३॥

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥१४॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥ १५॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १६॥

जिसकी रसना (जिह्वा), उपस्थेन्द्रिय, उदर और हस्त-पाद आदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण वश में हों अथवा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। विद्वान् पुरुष संसार को निस्सार समझकर सार तत्त्व पाने की कामना से अविवाहित रहकर ही वैराग्याश्रित होकर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कर्म प्रवृत्ति का लक्षण है तथा ज्ञान संन्यास का मुख्य लक्षण है। अस्तु, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान को लक्ष्य करके ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करे॥ १४-१६॥

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥१७॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि। सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति॥ १८॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत्। तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक्॥ १९॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्। इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक्॥ २०॥
यस्मिन्शान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम्। अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२१॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्। कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक्॥ २२॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः। वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥२३॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ २४॥
अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि। प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ २५॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः। शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२६॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२७॥

जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो जाए, तब एक दण्ड धारण करके शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जो परमात्मा में अनुरक्त है तथा उससे भिन्न समस्त वस्तुओं के प्रति विरक्त है, जो सभी एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा) से मुक्त है, वही भिक्षा का अन्न ग्रहण करने का अधिकारी है। अपनी पूजा और वन्दना किये जाने पर जिस प्रकार सामान्य जन प्रसन्न होते हैं, डण्डों से पीटे जाने पर भी जिसे उसी प्रकार की प्रसन्नता हो, वही भिक्षु होने के योग्य है। जिसके मन में इस प्रकार का भाव दृढ़ हो गया है कि मैं ही वासुदेव नाम प्रख्यात अद्वितीय, अक्षर ब्रह्म हूँ; वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी है। जिसमें शान्ति, शम (शमन), दम (दमन), शौच (पवित्रता), सत्य, सन्तोष, सरलता, अपरिग्रह का भाव तथा दम्भ का अभाव हो, वही कैवल्याश्रम (संन्यासाश्रम) में प्रवेश करने का अधिकारी है। जो मन, वचन, कर्म से भी किसी के प्रति पाप का भाव नहीं रखता, वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। (मनुकथित) धर्म के दस लक्षणों को जीवन में एकाग्रता पूर्वक उतार कर जो सविधि वेदान्त श्रवण, स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य पालन करते हुए तीनों ऋणों (ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण) से मुक्त हो (ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्याय

द्वारा ऋषिऋण से, यज्ञानुष्ठान द्वारा देवऋण से तथा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति का प्रयास करे) वही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। धैर्य, क्षमा, दमन (मन को वश में रखना), अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, धी (सद्बुद्धि), विद्या, सत्य एवं अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं। जो पुरुष अतीत के भोगों का चिन्तन नहीं करता, वर्तमान में प्राप्त भोगों का अभिनन्दन (स्वागत) नहीं करता तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता, वही संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार रखता है। जो पुरुष अन्तःकरण में विराजमान इन्द्रियों तथा बाह्याभ्यन्तर के विषयों को मन में स्थान न दे, वही कैवल्याश्रम (संन्यास) में रहने के योग्य है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार जो व्यक्ति प्राणों के रहने पर भी सुख-दुःख का अनुभव न करे, वही संन्यास लेने के योग्य है॥ १७-२७॥

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः। यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते॥ २८॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम्। रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते॥ २९॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु। कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम्॥ ३०॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः। एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥ ३१॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेद्यतिः॥ ३२॥

दो कौपीन, एक कन्था (गुदड़ी) तथा एक दण्ड इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करने का परमहंस (संन्यासी) को अधिकार नहीं है। यदि वह इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करता है, तो वह मरणोपरान्त रौरव नामक नरक में जाता है, तत्पश्चात् तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) योनियों में जाता है। संन्यासी को चाहिए कि वह शीत आदि से रक्षा के लिए जीर्ण-शीर्ण; किन्तु साफ-सुथरे वस्त्रों को सिलकर कन्था (गुदड़ी) बनाये और नगर या ग्राम से बाहर निर्जन स्थान में जाकर रहे तथा गेरुआ वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक वस्त्र धारण करे अथवा वस्त्रहीन रहे। दृष्टि को इधर-उधर न रखकर एकाग्रचित्त रहे तथा समस्त वस्तुओं के प्रति अलोलुप रहे। वह सतत एकाकी ही विचरण करे और वर्षाकाल (चातुर्मास) में एक स्थान पर निवास करे। स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, वेदाङ्गों के ग्रन्थ (व्याकरण आदि), यज्ञ और यज्ञोपवीत को सर्वथा विसर्जित करके संन्यासी को सदैव अपने को गूढ़ बनाकर (अपना विज्ञापन किये बिना) विचरण करना चाहिए॥ २८-३२॥

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत्॥३३॥
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः। प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिस्पृहः॥३४॥
दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः। आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात्॥३५॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति॥ ३६॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ ३७॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥३९॥
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥४०॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि समस्त दोषों का परित्याग करके संन्यासी को सब ओर से निर्मम (ममतारहित) हो जाना चाहिए। उसे समस्त रागों से विरक्त होकर मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव रखना चाहिए। उसे हिंसा से परे और निस्पृह हो जाना चाहिए। जो संन्यासी दम्भ, अहंकार, हिंसा, परनिन्दा आदि दोषों से दूर है तथा आत्मज्ञान उपलब्ध कराने वाले गुणों से सुशोभित है, वही मुक्ति का अधिकारी है।

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने पर व्यक्ति निःसन्देह दुर्गुणों से लिप्त हो जाता है; परन्तु इन्हीं इन्द्रियों को वह सम्यक् रूप से वश में कर ले, तो (मुक्ति रूप) सिद्धि को प्राप्त करता है। सांसारिक भोगों का निरन्तर उपभोग करने से, उन्हें भोगने की कामना कभी शान्त नहीं होती, वह उसी तरह और बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि में घृत डालने पर वह और अधिक प्रज्वलित होती है। जो (साधक) मृदु या कटु वचनों का श्रवण करके, स्वादिष्ट या स्वादरहित भोजन करके, सुन्दर या कुरूप दृश्य देखकर तथा सुगन्धित या दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ सूँघ कर न तो हर्षोल्लसित होता है और न ही ग्लानि का अनुभव करता है, उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए। जिसका मन और वाणी पवित्रता से ओत-प्रोत है, जो सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त है, वही वेदान्त सुनने का फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्मान को विष तुल्य उद्विग्नकारी तथा अपमान को अमृत तुल्य मानकर सदा उसकी कामना करे॥ ३३-४०॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ ४१॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४२॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ ४३॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ४४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ४५॥
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्। चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥ ४६॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥ ४७॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः॥ ४८॥
सा कालपुत्रपदवी सा महावीचिवागुरा। सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः॥ ४९॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते। स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी॥ ५०॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम्॥ ५१॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान्शनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ ५२॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः। सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३॥

अपमान प्राप्त करने वाला पुरुष सुखपूर्वक शयन करता, सुखपूर्वक जागता और इस संसार में सुखी होकर विचरता है, परन्तु (किसी का) अपमान करने वाला व्यक्ति अपने आप ही विनष्ट हो जाता है। दूसरों के कठोर वचनों (अतिवादों) को सहन करने का अभ्यास करे, किसी का भी अनादर न करे तथा इस नाशवान् शरीर के लिए किसी से वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करे, उसके प्रति क्रोधित न हो, यदि कोई अपशब्द कहे तो उसके प्रति भी मधुर वचन कहे। सप्तद्वारों (दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र और एक मुख) से सम्बद्ध जिह्वा को कभी अनृत भाषण (झूठ बोलने) के लिए प्रयुक्त न करे। सुख प्राप्ति की इच्छा वाले को चाहिए कि वह आध्यात्मिक विषयों में मन को संलग्न करके, स्थिर भाव से बैठे,किसी से कुछ अपेक्षा न रखे, मन से समस्त कामनाओं को निष्कासित कर दे और अपने आप अपनी सहायता करते हुए इस संसार में एकाकी ही विचरता रहे। इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखे, राग-द्वेष को समाप्त कर दे एवं किसी की भी हिंसा न करे। ऐसा करने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। यह काया रोगों का आगार है, जिसमें अस्थिरूपी स्तम्भ लगे हैं, जिसमें स्नायुओं का जाल डोरियों के रूप में पूरित है, जिस पर रक्त और मांस का लेपन (प्लास्टर) है तथा जिसे चर्म से मानो मढ़ दिया गया है। यह सदैव मल-मूत्र से पूरित रहता है, जिसमें दुर्गन्ध भरी है। इस (शरीर)

में जरावस्था और रोगों के कारण निरन्तर संताप और आतुरता रहती है। रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण यह शरीर रजस्वल (रजोगुण प्रधान अथवा धूलि से भरा-विकारों से भरा) है। यह शरीर अनित्य है अर्थात् किस दिन इसका अवसान हो जायेगा, यह पता नहीं है। पञ्च महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश) सदैव डेरा डाले रहते हैं, अतः इसे त्याग देना चाहिए अर्थात् इसके प्रति मोह को त्याग देना चाहिए। यदि कोई मनुष्य रक्त, रस, मांस, मज्जा, अस्थि, मल-मूत्र और नाड़ियों से निर्मित इस शरीर से प्रेम करता है, तो वह नरक से भी अवश्य प्रेम करेगा। शरीर में स्थित अहंभाव ही कालसूत्र नामक नरक को ले जाने वाला है, वही कालवीचि नरक में भी ले जाने वाले जाल के रूप में भी बिछा है। वही (अहं) असिपत्र वन नामक नरक की कोटि का है। शरीर में स्थित अहंता कुत्ते का मांस भक्षण करने वाली चण्डालिनी के समान है। सभी प्रकार के उपाय करके इस अहंता को त्याग देना चाहिए। कल्याण कामी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वनाश उपस्थित हो जाने पर भी इस अहंता का स्पर्श तक न होने दे। अपने प्रिय जनों में स्थित पुण्य और अप्रियजनों में स्थित दुष्कृत्यों (पाप) के अतिरिक्त स्वयं उनसे किसी प्रकार भी सम्बन्ध न रखे। ऐसा करने वाला साधक ध्यान योग के द्वारा सनातन पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इस तरह समस्त विषयों से धीरे-धीरे आसक्ति का परित्याग करके संन्यासी समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर परब्रह्म परमेश्वर में स्थित हो जाता है। सिद्धि के इच्छुक साधक को चाहिए कि वह असहायक बनकर सतत एकाकी ही विचरण करे। संन्यासी किसी की सिद्धि को देखकर अपनी साधना नहीं छोड़ता और वह सिद्धि से वञ्चित भी नहीं होता॥ ४१-५३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ५४॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्॥ ५५॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्द्वावेव मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥५६॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा। एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः॥ ५७॥
राजवार्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्ता परस्परम्। स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः॥ ५८॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत्। दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः॥ ५९॥
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः। मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन॥ ६०॥
कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते। नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ६१॥

जल पीने के लिए कपाल (नारियल अथवा लकड़ी का पात्र), निवास करने के लिए किसी वृक्ष का मूल, धारण करने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, सदैव अकेले रहने का स्वभाव एवं समस्त जीव-धारियों के प्रति समत्व का भाव ये सभी जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण हैं। संन्यासी को समस्त प्राणियों का हितैषी होना चाहिए। उसे शान्तचित्त रहकर सतत त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करके केवल आत्मा में ही रमण करते रहना चाहिए। वह सब कुछ त्यागकर अकेला ही विचरण करे, जब भिक्षा लेना हो तभी ग्राम में प्रवेश करे। शास्त्रों में एकाकी रहने वाले संन्यासी को ही भिक्षु कहा गया है; क्योंकि एक से दो होते ही उसे मिथुन (युगल) माना जाता है। दो से तीन हो, तो ग्राम और इससे अधिक व्यक्तियों का समुदाय एक साथ हो जाय, तब तो नगर ही कहा जायेगा। संन्यासी को अपने पास किसी अन्य को आने का अवसर नहीं देना चाहिए; ताकि मिथुन, ग्राम या नगर की स्थिति न बने। ऐसा करने से वह अपने धर्म से पतित हो जाता है। अनेक व्यक्तियों का एक साथ संयोग होने से उनमें विभिन्न चर्चाएँ प्रारम्भ हो जायेंगी और उनमें राजा, सेठ आदि के विषय में तथा कहाँ-कैसी

भिक्षा मिलती है, इस पर चर्चा होगी। इसके पश्चात् विभिन्न बातों के फलस्वरूप परस्पर राग-द्वेष, चुगली आदि के भाव उत्पन्न होंगे ही, इसमें कोई संशय नहीं है। इसीलिए शास्त्रों ने संन्यासी को निस्पृह भाव से एकाकी ही रहने का आदेश दिया है। वह किसी के साथ व्यर्थ बातचीत न करे। दूसरों की बात या नमन का उत्तर नारायण कहकर दे। निर्जन स्थान में अकेले रहकर मन, वचन, शरीर और क्रिया द्वारा एकमात्र ब्रह्म का ही ध्यान करता रहे। जीवन अथवा मृत्यु का कभी अभिनन्दन न करे। मृत्युकाल आने तक की प्रतीक्षा करता रहे। संन्यासी जीवन और मृत्यु में से किसी की प्रतीक्षा न करे। साधक को चाहिए कि वह भृतक (वैतनिक कर्मचारी) के द्वारा अपने स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करने की तरह एकमात्र काल की प्रतीक्षा करता रहे॥ ५४-६१॥

अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥ ६२॥
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति। हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥ ६३॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्। शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः॥६४॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च। योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः॥ ६५॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥ ६६॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्। श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः॥ ६७॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः। सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते॥ ६८॥
नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा। भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन॥ ६९॥
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु। षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत्॥ ७०॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथालौल्यमेव च। दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट्॥७१॥
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः। सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥ ७२॥
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः। न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत्॥७३॥
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्। इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ ७४॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः। निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च॥ ७५॥
निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः। विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय इति ॥ ७६॥

नपुंसक (काम भाव शून्य), अन्धे, लूले, बहरे, मुग्ध (जड़) और अजिह्व के समान रहने वाला भिक्षु उपर्युक्त छः गुणों से सम्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। जो स्वाद-अस्वाद को न देखकर भोजन ग्रहण करता है और हितकर, मृदु तथा सत्य बोलता है उसे 'अजिह्व' कहा जाता है। जो पुरुष नवजात कन्या, षोडशी युवती और शतवर्षा वृद्धा को देखकर मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने देता, उसे 'षण्डक' कहते हैं। जो भिक्षु मात्र भिक्षा अथवा मल-मूत्र त्याग के लिए ही भ्रमण करता है तथा एक दिन में एक योजन (चार कोस) से अधिक गमन नहीं करता (शेष समय ध्यानादि करते हुए खड़े होकर व्यतीत करता है) वह पङ्गु ही है। चलते हुए या खड़े होकर जिसकी आँखें चार युग (प्रायः दस हाथ) भूमि की दूरी तक ही देखती हैं, उसे 'अन्ध' कहते हैं। हित अथवा अहित की तथा सुख अथवा दुःख की बात को जो नहीं सुनता (इस प्रकार की बात सुनकर भी उससे प्रभावित होकर कोई ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' (बहरे के समान) है। विषयों की समीपता, शरीर में सामर्थ्य और इन्द्रियों में स्वस्थता होते हुए भी जो भिक्षु सोये हुए के समान उन विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसे 'मुग्ध' (जड़ या भोला-भाला) कहा गया है। भिक्षु (संन्यासी) को चाहिए कि वह

अपने सम्बन्धियों, नटों के खेल, द्यूतक्रीड़ा, युवती स्त्री, भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री इन छः की ओर कभी दृष्टिपात न करे। दूसरों के प्रति द्रोह, अपनों के प्रति मोह, मद, माया और राग-द्वेष इन (दोषों) से सदैव अलग रहे तथा मन में भी इनके प्रति कभी विचार तक न आने दे। मञ्च (कुर्सी आदि), श्वेत वस्त्र, स्त्रीचर्चा, इन्द्रियलोलुपता, दिवा-शयन और सवारी पर यात्रा करना—ये छः (दोष) संन्यासी के लिए पातक रूप हैं। आत्म चिन्तन की कामना वाले संन्यासी के लिए उचित है कि वह दूर की यात्रा न करने का प्रयत्न करता रहे और मोक्ष प्रदायिनी उपनिषद् विद्या का सतत अभ्यास करे। संन्यासी के लिए अधिक तीर्थ सेवन तथा अधिक उपवास उचित नहीं है। अधिक विद्याओं के पठन-पाठन का स्वभाव भी वह न बनाए। सभाओं में व्याख्यान भी न दे और पाप, दुष्टता तथा कुटिलता पूर्ण व्यवहार न करे। जिस प्रकार कछुआ सभी तरफ से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासी भी सभी विषयों की ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट ले तथा इन्द्रियों और मन के कार्य-व्यापारों को क्षीण कर दे। कामना और परिग्रह को त्यागकर हर्ष-शोक से विरत हो जाए। वह नमस्कार (देव स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) को भी त्याग दे। वह ममता और अहंकार से शून्य होकर किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करे। सदैव एकान्तवास करे। इस प्रकार उपर्युक्त ढंग से जीवनयापन करने से वह संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है॥ ६२-७६॥

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वाऽथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्त्यथवा न कुर्यादाग्न्येय्यामेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति तस्मात्त्रैधातवीयामेव कुर्यादेतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति॥ ७७॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिम्॥ ७८॥ इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेदेष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेद्यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयं मोदमिति शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्म-विन्मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विधेस्तद्ब्रह्म तदुपासितव्यमेवैतदिति॥ ७९॥

कोई भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थी जो ज्ञान, कर्म, और भक्ति से युक्त है तथा प्रमादरहित होकर आत्मा के अधीन रहता है, उसे यदि वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है। यदि वैराग्य परिपक्व न हुआ हो, तो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पूरी करके गृहस्थ में प्रविष्ट हो, तत्पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में जाए और उसकी भी अवधि पूर्ण करके संन्यास ग्रहण करे। यदि वैराग्य तीव्र हो जाए, तो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सीधे ही संन्यास ग्रहण कर ले। गृहस्थाश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम में यदि तीव्र वैराग्य हो जाए, तो उसके बाद भी सीधे ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मचारी-अब्रह्मचारी, स्नातक-अस्नातक, अग्निहोत्री-अनग्निहोत्री (अग्निहोत्र का त्याग कर चुकने वाला कोई भी हो), जब उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाये, तभी गृह-त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होते समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करते हैं, (तीव्र वैराग्य होने पर) उसे भी करना आवश्यक नहीं है अथवा केवल आग्नेयी इष्टि ही सम्पन्न करे। अग्नि ही प्राण है, इस इष्टि से साधक प्राण का ही पोषण करता है अथवा त्रैधातवी (जो

इन्द्र से सम्बन्धित है) इष्टि ही सम्पन्न करे। सत्त्व, रज और तम ये तीन ही धातुएँ हैं। इस इष्टि द्वारा साधक इन्हीं तीनों का हवन करता है। विधिवत् इष्टि करके 'अयं ते योनिः' इस मंत्र से अग्नि को सूँघे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- 'हे अग्निदेव! यह समष्टिगत प्राण ही तुम्हारी उत्पत्ति का मूल है। इसी कारण तुम उत्तम कान्ति से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने उत्पादक प्राण को जानकर इसमें विराजो। इस प्रकार हमारे प्राण में प्रतिष्ठित होकर हमारे ज्ञान-धन को समृद्ध करो।' निश्चय ही यह प्राणतत्त्व अग्नि के प्राकट्य का हेतु है। अतः इस कारण मन्त्र में अग्नि एवं प्राण की एकात्मता सिद्ध हुई है। आहवनीय अग्नि में से अग्नि प्राप्त कर उपर्युक्त तरीके से इष्टि करके अग्नि का अवघ्राण करे। यदि किसी कारणवश अग्नि प्राप्त न हो सके, तो जल में ही यजन कृत्य पूर्ण कर लेना चाहिए। अवश्य ही समस्त देवगण जलरूप हैं। समस्त देवों के लिए मैं यजन-कृत्य कर रहा हूँ, यह हवि उन देवों को प्राप्त हो (ऐसा भाव करना चाहिए)। तत्पश्चात् उस जल-राशि में से थोड़ा सा जल लेकर उससे आचमन कर लेना चाहिए। वह घृत मिश्रित जल आरोग्यप्रद एवं मोक्षप्रदाता होता है। तदनन्तर शिखा (चोटी), यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन-अध्यापन तथा अन्यान्य विभिन्न तरह के मन्त्रों का परित्याग कर देने वाला ही आत्मवेत्ता मनुष्य परिव्राजक होता है। त्रैधातवीय मोक्ष से सम्बन्धित मन्त्रों से ब्रह्म को जानना चाहिए। जो शाश्वत सत्य एवं ज्ञान आदि श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न है, वही परब्रह्म परमेश्वर है, वही उपासना के अनुकूल है। उसी की ही उपासना करनी चाहिए। यह ठीक इसी प्रकार ही है॥ ७७-७९॥

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः॥ ८०॥ सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ८१॥ सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥ ८२॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः॥ ८३॥ बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः। धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्॥ ८४॥ सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ ८५॥ ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते॥ ८६॥ अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥८७॥ कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः। तैर्विधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥ ८८॥ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति॥८९॥

देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! मनुष्य यज्ञोपवीत को धारण न किये रहने से ब्राह्मण कैसे हो सकता है? तब पितामह ने उन देवर्षि नारद से कहा-हे नारद! ज्ञानवान् पुरुषों को शिखा के सहित सिर के सभी केशों का मुण्डन कराके शरीर पर यज्ञोपवीत के रूप में धारण किये हुए बाह्य सूत्र का परित्याग कर देना चाहिए तथा जो अविनाशी शाश्वत परब्रह्म परमेश्वर है, उसी को सभी में व्याप्त सूत्र रूप में जान करके अपने अन्तः में धारण करे। जो सूचना अर्थात् जानकारी का कारण हो, उसे ही सूत्र कहते हैं। इसके कारण से 'सूत्र' परमपद का नाम है। जिस ज्ञानी पुरुष ने उस परमपद रूप सूत्र को जान लिया, वही वेदों का जानने वाला श्रेष्ठ ब्राह्मण है। जिस प्रकार सूत्र (धागे) में मनके (दाने) पिरोये होते हैं, उसी प्रकार जिस अविनाशी परमात्मतत्त्व में यह सम्पूर्ण संसार पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योग-विद्या का जानकार तत्त्वज्ञ योगी उसा श्रेष्ठ सूत्र को अपने अन्तः में धारण करे। ज्ञानी मनुष्य श्रेष्ठ योग का आश्रय प्राप्त करके बाह्य सूत्र का त्याग

कर दे; क्योंकि इस ब्रह्मरूप सूत्र के धारण करने से परिव्राजक न तो कभी उच्छिष्ट (जूठा) होता है और न ही कभी अपवित्र होता है। सद्ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन परिव्राजकों के अन्तःकरण में वह ब्रह्मरूप सूत्र प्रतिष्ठित है, वे ही इस जगत् में सूत्र के यथार्थ रूप को जानने वाले तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं। परिव्राजक (संन्यासी) ज्ञानरूपी शिखा को धारण करते हैं, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होते हैं तथा ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को ही धारण करते हैं। उन परिव्राजकों के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ होता है। ज्ञान को ही सबसे पवित्र कहा गया है। जिस तरह से अग्नि की शिखा उसके स्वरूप से अलग नहीं होती, उसी तरह जिस श्रेष्ठज्ञानी परिव्राजक ने ज्ञानरूपी शिखा को धारण कर रखा है, वही शिखाधारी कहा जाता है; दूसरे अन्य लोग जो मात्र केश को धारण करते हैं, वे वास्तविक शिखा को धारण करने वाले नहीं होते। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मादि के श्रेष्ठ अधिकारी माने जाते हैं, उन्हीं श्रेष्ठजनों को यह बाह्य सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही कर्म का श्रेष्ठ अंग माना गया है। जिन परिव्राजकों के पास ज्ञानरूपी शिखा एवं ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत है, उसी परिव्राजक में पूर्णरूपेण ब्राह्मणत्व विद्यमान है। ब्रह्मज्ञानी जन ऐसा ही मानते हैं॥ ८०-८९॥

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेदथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा सपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सर्वकर्मणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितो निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदुःख-कामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा स्वव्यतिरिक्तं सर्वमन्तर्बहिरमन्य-मानः कस्यापि वन्दनमकृत्वा न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेन्नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न त्वन्यत्र सर्वत्रानिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृह तृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषु वने वा श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तकदत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालो-न्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्तवदाचरंस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूःस्वाहेत्यप्सु परित्यज्य॥ ९०॥

इस प्रकार से ब्राह्मण उपर्युक्त सभी नियमोपनियम जानकर घर का परित्याग करके संन्यासी हो जाए; मात्र एक ही वस्त्र धारण करे, सिर के बालों का मुण्डन करा ले तथा किसी भी तरह की वस्तुओं, पदार्थों आदि का संग्रह न करे। यदि वह शारीरिक क्लेशों को सहने में सक्षम न हो, तो उसे कौपीन (लँगोटी) धारण कर लेनी चाहिए और यदि शारीरिक क्लेशों-परेशानियों को सहने में समर्थ हो, तो विधिवत् संन्यास धर्म को ग्रहण कर वस्त्र रहित हो, जीवन-यापन करे। (वह) अपने मित्र, पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ गुरुजन एवं बन्धु-बान्धव, भाई आदि को त्यागकर विचरण करे। स्वाध्याय तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के साथ अपना सम्बन्ध परित्याग कर दे। अपने पास कौपीन, दण्ड एवं अंगाच्छादन हेतु वस्त्रादि ही रखे। सभी तरह के द्वन्द्वों को पूर्णरूपेण सहन करते हुए सर्दी-गर्मी आदि पर ध्यान न दे; न कभी सुख की इच्छा करे और न ही कभी दुःख आदि द्वन्द्वों से परेशान हो। निद्रा की भी चिन्ता न करे। मान-अपमान में सदैव सम भाव से रहे। छहों प्रकार की ऊर्मियों से वह कभी भी प्रभावित न हो। निन्दा, मत्सर (डाह), अहंकार, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, दोष-दृष्टि, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग कर अपने शरीर को मृतवत् मानकर, आत्मा के अलावा दूसरी अन्य किसी भी वस्तु को बाह्य एवं अन्तः से स्वीकार न करते हुए कभी भी किसी के

समक्ष सिर न झुकाये और न ही यज्ञ एवं श्राद्धादि करे, किसी की निन्दा एवं स्तुति (अनुनय-विनय) आदि भी न करे। एकाकी ही स्वच्छन्द सर्वत्र विचरण करता रहे। ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी भोजन आदि मिले, उस पर ही सन्तोष रखे। स्वर्णाभूषण आदि रत्नों का कभी भी अपने पास संग्रह न करे। न कभी किसी का आवाहन करे और न ही कभी विसर्जन। मन्त्रादि का न तो प्रयोग करे और न ही उसका त्याग करे। ध्यान एवं उपासनादि भी न करे। न कोई उसका लक्ष्य हो तथा लक्ष्यहीनता भी नहीं होनी चाहिए। न कभी किसी से अलग रहे और न ही कभी किसी के साथ रहे। न कभी किसी एक स्थान पर निवास करने का आग्रह करे और न ही किसी दूसरी जगह जाने का अनुरोध करे। उस ब्राह्मण का अपना निज का कोई आश्रम अथवा घर आदि भी नहीं होना चाहिए। उसकी बुद्धि सदैव स्थिर रहनी चाहिए। परिजनों से रहित भवन, वृक्ष की जड़, मन्दिर, पर्णकुटी, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर (आग्नेयदिशा), नदी का किनारा, कछार, भूगृह अर्थात् गुफा, पर्वतीय गुफा, झरने के समीप चबूतरे या वेदी या फिर जंगल में निवास करे। ऋभु, श्वेतकेतु, निदाघ, ऋषभ, संवर्तक, दुर्वासा, दत्तात्रेय एवं रैवतक की भाँति न कोई चिह्न स्वीकार करे और न ही अपने आचरण को ही किसी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने दे। उन्मत्त बालक अथवा पिशाच की तरह से व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त की तरह से आचरण करे। त्रिदण्ड, पात्र, झोली, कमण्डलु, कटिसूत्र एवं कौपीन आदि सभी कुछ 'भूः स्वाहा कहकर के जल में विसर्जित कर दे॥ ८९-९०॥

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं। सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्॥ ९१॥ आत्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वा याचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्त-द्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्॥ ९२॥

परिव्राजक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु आदि सभी को (नदी या सरोवर के) जल में विसर्जित करके वस्त्र रहित हो सर्वत्र विचरण करे। अपनी ही आत्मा का सतत अनुसंधान करता रहे, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर द्वन्द्वों (विकारों) को सहन करता रहे। उन द्वन्द्वों से प्रभावित न हो। किसी भी तरह की वस्तुओं का संग्रह कदापि न करे। आत्मतत्त्व एवं परब्रह्म परमात्मा का बोध कराने वाले ज्ञान-मार्ग में दृढ़निश्चय होकर प्रतिष्ठित रहे। अपने मन को सदा पवित्र रखे। (अपने) प्राणों की रक्षा के लिए निश्चित समय पर कर (हाथ) रूपी पात्र से या फिर किसी पात्र से, बिना किसी से याचना किये ही जो कुछ मिल जाए, उसी आहार (भोजन) को स्वीकार करे। हानि-लाभ को समान समझते हुए ममता से विलग हो जाए। मात्र अविनाशी शाश्वत परब्रह्म का ही सतत चिन्तन करे। अध्यात्म के चिन्तन में ही अपनी निष्ठा को सतत नियोजित किया करे। शुभ एवं अशुभ कर्मों का मूल्यांकन करता हुआ सदैव अपने आत्मा के उत्थान के अतिरिक्त सभी प्रिय वस्तुओं-पदार्थों का हमेशा के लिए परित्याग कर दे। एक मात्र आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार से युक्त हो, 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीट की भाँति एक मात्र परब्रह्म स्वरूप ॐकार का ही ध्यान करता रहे। तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर) के प्रति अहंकार एवं मोह के भाव का परित्याग करके, सर्वस्व विसर्जित करके ही परिव्राजक अपने शरीर का परित्याग करे। इस तरह से उपर्युक्त बताये हुए नियमों को जो भी संन्यासी अपनाता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ईश्वर सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है, यह ऐसा ही उपनिषद् है॥ ९१-९२॥

॥ चतुर्थोपदेशः ॥

[संन्यास-धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म को धारण करने की शास्त्रीय विधि]

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च। आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम्॥१॥ नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम्। वयो वृत्तं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥२॥ न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्। कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥३॥ एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः। चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति॥४॥ तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये। शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः ॥५॥ अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्। प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः। प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥६॥ आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा। सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः॥७॥ प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत्। प्रेरयेद्वा तया भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन॥८॥ जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम्। श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः॥९॥ अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम्॥१०॥ अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः। उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा॥११॥ ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः। एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्॥१२॥

जो ज्ञानी मनुष्य लोक, वेद, विषय-वासनाओं के भोग एवं समस्त इन्द्रियों की अधीनता का परित्याग करके एक मात्र अपने आत्मा के उत्थान में सतत स्थिर रहता है, वही परिव्राजक (संन्यासी) श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। उत्तम परिव्राजक नाम, गोत्र आदि के वरण, देश, काल, शास्त्रीय ज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत-उपवास एवं शील आदि का प्रकाशन (प्रचार-प्रसार) कदापि न करे। (वह) किसी भी स्त्री से वार्त्तालाप कभी न करे। पूर्व में देखी हुई किसी भी परिचित स्त्री का अपने मन में स्मरण तक भी न करे, उन स्त्रियों की चर्चा से सदैव दूर रहे और उनके चित्र आदि को भी कभी न देखे। भाषण-सम्भाषण, स्मरण, चर्चा एवं चित्रों को देखना, स्त्रियों से सम्बन्धित इन चार तरह की बातों का जो (मनुष्य) मोह के वश हुआ आचरण करता है, निश्चय ही उसके चित्त में विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उन विकारों से उसका धर्म अवश्य ही नष्ट हो जाता है। संन्यासियों के लिए आसक्ति, क्रोध, झूठ, माया, मोह, लोभ, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यान करना, कामना, राग, संग्रह, अहंकार, परगृह निवास, चिकित्सा का व्यवसाय, ममता, धर्म के लिए साहसिक कार्य, मन्त्र प्रयोग, औषधि-वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना आदि ये सभी कार्य वर्जित हैं। इनका उपयोग करने वाला परिव्राजक अपने धर्म (लक्ष्य) से पदच्युत हो जाता है। मोक्ष धर्म में सतत संलग्न रहने वाला ज्ञानी संन्यासी अपने किसी हितैषी (शुभचिन्तक) के लिए भी आओ, जाओ, रुको आदि स्वागत एवं सम्मान की बात कभी न करे। स्वप्न में भी कभी किसी के द्वारा दिया हुआ दान स्वीकार न करे। दूसरे अन्य किसी को भी न दिलवाए और न खुद ही किसी को देने-लेने के लिए बाध्य करे। स्त्री-पुरुष आदि भी आत्मीय स्वजनों के शुभ अथवा अशुभ समाचारों को सुनकर-देखकर कभी भी अपने लक्ष्य से विचलित न हो, दुःख-सुख को सदैव के लिए त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह (आदि का पालन करना), उद्दण्डता के भाव से रहित होना, किसी व्यक्ति विशेष के समक्ष दीन-हीन न होना, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता,

अस्नेह (किसी से अत्यधिक लगाव न रखना), गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियों का संयम, मन का निग्रह, सभी प्रियजनों के प्रति उदासीनता का भाव, धीरता, मृदुलता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता , स्वल्प आहार एवं धृति (धैर्य), ये सभी मन को वश में रखने वाले परिव्राजकों (संन्यासियों) के श्रेष्ठ प्रख्यात धर्म हैं॥ १-१२॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः। तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः॥ १३॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्। वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्॥ १४॥
द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा। रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत्॥ १५॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्माऽनिकेतनः। पर्यटेत्कीटवद्भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥१६॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः । अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत्॥ १७॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्। पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम्॥ १८॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोर्नैव पर्यटन् । न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च॥ १९॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् । पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् । वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥ २०॥ आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्। अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत्॥ २१॥ स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः । हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२॥

द्वन्द्व आदि विकारों से रहित होकर, सात्त्विक गुणों में सर्वदा प्रतिष्ठित रहकर सर्वत्र सम दृष्टि रखने वाला तुरीयावस्था में स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण का साकार रूप है। (वह) गाँव में एक रात्रि ही निवास के लिए रहे और बड़े नगर में मात्र पाँच रात्रि ही व्यतीत करे, परन्तु यह नियम वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय के लिए ही निर्धारित है। वर्षाकाल में वह (संन्यासी) चार माह तक किसी एक निश्चित स्थान पर वास करे। संन्यासी एक गाँव में दो रात्रियाँ कभी न रहे। यदि वह रहता है, तो सम्भव है कि उसके अन्तःकरण में राग आदि विकारों का भाव आ जाय। इन विकारों से वह नरक में गमन करने वाला हो जाता है। गाँव से बाहर किसी एकान्त स्थल में मन एवं इन्द्रियों को संयमित करके निवास करे। कहीं पर भी (वह) अपने निवास के लिए आश्रम या कुटी (मठ) आदि न बनाये। जिस तरह से कृमि-कीट हमेशा यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं, उसी तरह से आठ मास तक परिव्राजक इस वसुन्धरा पर विचरण करता रहे। मात्र वर्षाकाल चार मास वह एक ही स्थल पर निवास करे। संन्यासी मात्र एक ही वस्त्र अपने शरीर पर धारण करे या फिर वस्त्ररहित होकर रहे। उस (संन्यासी) की दृष्टि यत्र-तत्र अस्थिर (चंचल) न होकर एक लक्ष्यविशेष पर ही केन्द्रित रहे। कभी भी विषयभोगों में आसक्त न होकर एवं सज्जन पुरुषों के मार्ग को कलुषित न करते हुए सतत परमात्मा के ध्यान में स्थित होकर पृथ्वी पर विचरण करे, वह अपने धर्म का निर्वाह करते हुए सदैव पवित्र स्थल पर ही निवास करे। योग-परायण परिव्राजक पृथ्वी तल पर (नीचे की ओर) दृष्टि रखते हुए ही सर्वदा विचरण करता रहे। रात्रि को, मध्याह्न में तथा दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायं) के समय कभी भी इधर-उधर भ्रमण न करे और ऐसे स्थलों पर भी भ्रमण न करे, जो निर्जन, दुर्गम एवं समस्त प्राणियों के लिए बाधा पहुँचाने वाले हों। गाँव में एक रात्रि, पुरवे में दो दिन, पत्तन अर्थात् छोटे शहर-कस्बे में तीन दिन तथा नगर में पाँच रात्रियों तक परिव्राजक को ठहरना चाहिए। वर्षाकाल में किसी एक विशेष स्थल पर, जो चारों तरफ से शुद्ध जल से घिरा हुआ हो, अपना निवास बनाए। परिव्राजक समस्त भूत-प्राणियों को अपने ही सदृश देखता हुआ

अंधे, मूर्ख, बधिर, पागल तथा गूँगे की तरह से इच्छा रखता हुआ भूमि पर विचरता रहे। बहूदक एवं वन में स्थिर संन्यासियों के लिए त्रिकाल स्नान कहा गया है, लेकिन 'हंस' नामक संन्यासी के लिए दिन में मात्र एक ही बार स्नान करने का नियम है। 'हंस' नामक संन्यासी से श्रेष्ठ-उच्च स्थिति वाले 'परमहंस' नामक संन्यासी के लिए स्नान आदि का कोई विशेष नियम नहीं है॥ १३-२३॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता। निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम्॥ २३॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः। अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत्॥ २४॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोस्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥ २५॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः। क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च। अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्। ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम्॥ २९॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः। निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः॥३०॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः। एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिञ्ज्ञानमेव हि कारणम्। निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥३२॥
यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥ ३३॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम्। गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४॥
संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥ ३५॥
तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः। लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनमिति॥३६॥

एकदण्डी संन्यासियों के पालन करने योग्य ये सात प्रकार के नियम- 'वाणी का मौन, योगासन, योग, तप-तितिक्षा, एकान्तवास, निःस्पृहभाव एवं समभाव' बतलाये गये हैं। जो परिव्राजक परमहंस की उच्च श्रेणी में पहुँच चुका है, उसके लिए स्नान आदि आवश्यक न होने के कारण केवल वह समस्त चित्त-वृत्तियों का त्याग मात्र करे। त्वचा, मांस, रक्त, नाड़ी, मेद, मज्जा एवं अस्थि सहित इस देह में रमण करने वाले पुरुषों और मल-मूत्र एवं पीप में रहने वाले कृमि-कीटकों में कितना अन्तर है? कहाँ समस्त कफ आदि घृणित पदार्थों का एकत्रित विशाल रूप यह शरीर और कहाँ अंग-अवयवों की शोभा, विशेष सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण। अज्ञानी मनुष्य रक्त, मांस, पीप, मल-मूत्र, मज्जा, नाड़ी एवं अस्थियों के सहित इस देह में यदि प्रीति करता है, तो उसे नरक की निश्चय ही प्राप्ति होगी। उच्चारण न करने योग्य स्त्रियों के गुप्ताङ्ग तथा सड़े हुए नाड़ी के घाव में विशेष कोई अन्तर न होने पर भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मान्यता के भेद से प्रायः वंचित किया जाता है। आखिर स्त्रियों का वह गुप्ताङ्ग क्या है?- दो भागों में विदीर्ण हुआ चर्मखण्ड मात्र और वह भी अपान वायु के निष्क्रमण से दुर्गन्धयुक्त रहता है। जो मनुष्य सतत उसमें रमण करते रहते हैं, उन्हें नमस्कार है। इससे अधिक बड़ा दुस्साहस और क्या हो सकता है? ज्ञानी परिव्राजक के लिए न कोई कर्त्तव्य शेष रहता है और न ही चिह्न विशेष को धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता। वह संन्यासी ममता-विहीन, भय रहित, शान्त, द्वन्द्वरहित, जाति-वर्ग आदि के अहं से रहित तथा भोजन आदि के उपार्जन की चेष्टा से रहित होता है। संन्यासी मुनि लँगोटी धारण करके ही रहे या फिर वस्त्र रहित होकर नग्नावस्था में रहता हुआ परमात्मा के चिन्तन में सदा लगा रहे। इस तरह से ज्ञानपरायण यति ब्रह्म के भाव की प्राप्ति में सक्षम होता है। परिव्राजक का

चिह्न विशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही विशेष रूप से मुक्ति का माध्यम होता है। प्राणियों के लिए विभिन्न तरह के चिह्नों का धारण मोक्ष साधक ज्ञान के अभाव में व्यर्थ ही होता है। जिस (व्यक्ति) के सन्दर्भ में कोई भी यह न जानने में समर्थ हो कि वह साधु है या असाधु, अज्ञानी है या ज्ञानवान् या फिर वह सदाचारी है या दुराचारी, वास्तव में वही सच्चा ब्रह्मपरायण ब्राह्मण है। इस कारण ज्ञानी परिव्राजक चिह्न विशेष को न धारण करके अपने धर्म का ज्ञान रखते हुए सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमात्म सत्ता के ध्यान-व्रत का पालन करे। वह गूढ़ातिगूढ़ धर्म का आश्रय प्राप्त करके ऐसा आचरण करे, जिससे उस संन्यासी के आचरण के सम्बन्ध में कोई भी बात दूसरे अन्य लोगों पर परिलक्षित न हो। समस्त प्राणिजनों के लिए संदेह का विषय बना हुआ वह वर्ण-जाति एवं आश्रय से विहीन होकर अन्धे, जड़ एवं गूँगे के सदृश भूमि पर विचरण करता रहे। ऐसे श्रेष्ठ शान्तचित्त परिव्राजक का दर्शन करके देवगण भी उसके जैसी स्थिति पाने के लिए सर्वदा आतुर होते रहते हैं। जब अपनी आत्मसत्ता के सिवाय दूसरी अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व का चिह्न भी शेष न रह जाए, तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही यह ब्रह्मतत्त्व का विशेष दिव्य सन्देश है॥ २३-३६॥

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्याद्देवर्षिदिव्यमनुष्यभूत पितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानृषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान्भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्मातृश्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीरात्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहाञ्जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा शेषकर्मसिद्ध्यर्थं सप्तकेशान्विसृज्य- 'शेषकर्मप्रसिद्ध्यर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः। संक्षिप्य वापयेत्पूर्वं केशश्मश्रुनखानि च' इति सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा सायंसंध्यावन्दनं निर्वर्त्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वाहुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वाचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा चतुर्थयामान्ते स्नात्वा तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा पुरुषसूक्तेनान्नस्य षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुं दत्त्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा। सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा इति। या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः स क्षय एधीत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य प्रातःसंध्यामुपास्य सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा

नाभिदघ्नोदकमुपविश्याष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्वासनं कृत्वा सावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा। अहं वृक्षस्य रेरिव। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि। द्रविणं मे सवर्चसं सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्। यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय। दारेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहं ॐ भूः संन्यस्तं मया ॐभुवः संन्यस्तं मया ॐ सुवः संन्यस्तं मया ॐ भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमताल-जध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्याभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहेत्यनेन जलं प्राश्य प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्यों स्वाहेति शिखामुत्पाट्य। यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः। यज्ञोपवीत बहिर्न निवसेस्त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्त्रं परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्त्वा उदकाञ्जलिना सह। ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। ॐ भूः संन्यस्तं मया। ॐ भुवः संन्यस्तं मया। ॐ सुवःसंन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिवर्तकोऽहमिति स्मृत्वा जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वबाहुरुदीचीं गच्छेत्॥ ३७॥

तत्पश्चात् देवर्षि नारद जी ने ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया-'हे भगवन् ! संन्यास की क्या विधि है', कृपा करके बताने का अनुग्रह करें। ब्रह्मा जी ने 'तथास्तु' कहते हुए स्वीकृति प्रदान की और इस प्रकार बोले कि 'आतुर संन्यास अथवा क्रम संन्यास में चतुर्थ आश्रम ग्रहण करने के लिए सबसे पहले प्रायश्चित्तरूप कृच्छ्र आदि व्रत-अनुष्ठान कर ले, फिर अष्टश्राद्ध करे। देवता, ऋषि, दिव्य मानव, भूत, पितर (दिव्य पितर, दिव्य मानव पितर), मातृकाएँ एवं अपनी अन्तरात्मा—इन आठ की तृप्ति हेतु आठ तरह से श्राद्ध करना अति आवश्यक है। सर्वप्रथम 'सत्य' एवं 'वसु' नामक विश्वेदेवों का आवाहन करे; तदनन्तर देवश्राद्ध में ब्रह्मा, विष्णु एवं भगवान् शिव का आवाहन करे, ऋषिश्राद्ध के अन्तर्गत देवर्षि, राजर्षि तथा मानवऋषियों का आवाहन करे। दिव्यश्राद्ध में अष्ट वसु, एकादश रुद्र तथा द्वादश आदित्य का आवाहन करे। मनुष्यों के श्राद्ध में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनत्सुजात का आवाहन करे; भूतश्राद्ध में पृथिवी, आकाश आदि पञ्च महाभूतों को आवाहित करे; नेत्र आदि समस्त इन्द्रियों तथा जरायुज, स्वेदज, अण्डज आदि चतुर्विध प्राणिसमुदायों का आवाहन करे। पितृश्राद्ध में पिता, पितामह एवं प्रपितामह का तथा माताओं के श्राद्ध में माता, मातामही, प्रमातामही का आवाहन करे। आत्मश्राद्ध के अन्तर्गत स्वयं अपना, अपने पिता का तथा अपने पितामह एवं प्रपितामह का आवाहन करे। आठ तरह के श्राद्धों को एक ही यज्ञ का अंग बनाकर करने से हर एक श्राद्ध में दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को आमंत्रित करे तथा विधि-विधान से उन ब्राह्मणों का पूजन करे अथवा यदि आठ अलग-अलग यज्ञ सम्पन्न किये जाएँ; तो इस प्रकार की स्थिति में अपनी शाखा में आये हुए मन्त्रों द्वारा इन आठ श्राद्धों को आठ दिन में या फिर एक ही दिन में पूर्ण करे। श्राद्ध कल्प में कहे गये नियम के अनुसार ब्राह्मणों के पूजन (सम्मान) से लेकर भोजन तक पूरा कृत्य ठीक तरह से सम्पन्न करके पिण्डदान करे। इसके बाद दक्षिणा एवं ताम्बूल आदि समर्पित करे। शेष कार्य की सिद्धि हेतु सात अथवा आठ बालों को छोड़कर शेष बालों को